प्राप्ति स्थान–

(१) गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय
गांधीमार्ग फूवारा सामे
अहमदावाद–१

(२) पं. इन्द्रचन्द्रजी
C/o भारत मेडिकल स्टोर्स
केदारनाथ भवन जुना नागरदास रोड
अंधेरी इस्ट बम्बई–६९

(३) सोमचन्द डी. शाह
पालीताणा (सौराष्ट्र)

(४) शोरीलालजी नाहर
शांति जैन मीडल स्कूल मार्ग
ब्यावर–(राज.)

(५) सेवन्तीलाल वी. जैन
२०, महाजनगली, पहेले माले
झवेरी बाजार, बम्बई–२

(६) सरस्वती पुस्तक भंडार
रतनपोल हाथीखाना
अहमदाबाद–१

आवृत्ति प्रथम
विक्रम संवत् २०३४
किंमत–४–०० रु.

मुद्रक–
ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस,
पिपलाड़ा (राजस्थान)

१ पञ्च परमेष्ठि नमस्कार-महाश्रुतस्कन्ध

१ महा मङ्गलकारक नवकार मन्त्र

नमो अरिहन्ताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्व साहूणं ।
एसो पञ्च-नमुक्कारो ।
सव्व-पावप्पणासणो ।
मङ्गलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मङ्गलं ॥ १ ॥

पद (९) सम्पदा (८) गुरु अक्षर (७) लघु अक्षर (६१)
सर्व अक्षर (६८)

इस पद्य में अरिहंत सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु इन पञ्च परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। इनके स्मरण से सब पाप और विघ्न दूर होते हैं। यह नवकार सब से अधिकों में प्रथम मङ्गलरूप है।

❀ अनुक्रमणिका ❀

(१) धर्म के आदि प्रकाशक १

(२) साधु धर्म और श्रावक धर्म २८

(३) श्रद्धा ४५

(४) श्रावक धर्म ६७

(५) श्राद्ध विधि १०६

(६) तीर्थङ्करों के नाम का मंगल जाप ... ११३

(७) जैन परमेश्वर का स्वरुप १३४

(८) उपयोगी हित शिक्षा १४०

प्रास्ताविक

तत्त्वे धर्मे च तीर्थेशि सम्यक्त्वाख्यप्रकाशके ।
देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते ॥
गुरौ सद्ज्ञानदत्तर्मोक्षे ।
सदेवोऽसौ निश्चलो मोक्षमार्ग ॥१॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) सम्यग्ज्ञान (सच्चा ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (सच्चा वर्तन एवं ध्यान) यह मोक्ष सुख का सच्चा मार्ग है ।

—पूज्यपाद उमास्वातिजी वाचक

धर्म के चार अंग

श्रद्धा के बिना अर्थात् किसी भी हेतु विशेष से सच्ची जिज्ञासा हुये बिना सच्चा ज्ञान नहीं होता । सच्चे ज्ञान के बिना आचरण सुधरता नहीं एवं आचरण के बिना सद्ध्यान सम्भव नहीं होता । अर्थात् सद्ध्यान के लिये सदाचार की आवश्यकता रहती है । सदाचार हेतु सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता होती है और सम्यग् ज्ञान हेतु सम्यग् श्रद्धा की आवश्यकता रहती है । अट्ठारेक का ज्ञान अज्ञान ही है । अज्ञानी का चारित्र खाखरे ही है और चारित्रहीन का ध्यान दुर्ध्यान है । अतः दुर्ध्यान से दुर्गति होती है ।

दुर्गति से भीरू एवं सद्गति की इच्छुक आत्माओं को जितनी आवश्यकता सद्ध्यान की है उतनी ही आवश्यकता ध्यान को सुधारने वाले सदाचरण की, आचरण को सुधारने वाले सम्यग्ज्ञान की और ज्ञान को सुधारने वाली सम्यक् श्रद्धा की है। श्री जैनशासन की आराधना का तात्पर्य सत्श्रद्धा, सत्ज्ञान, सद्ज्ञेय और सद्ध्यान तथा इन चारों को धारण करने वाले सत्पुरुषों की आराधना है। इस चतुष्टयी में से किसी एक की अथवा इस चतुष्टयी को धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति की अवहेलना श्री जैन शासन की ही अवहेलना है। इस चतुष्टयी तथा इन चारों को धारण करने वालो की सतत् आराधना ही श्री जैनशासन की वास्तविक आराधना है। श्री जैन शासन की सम्यक् आराधना करने की इच्छुक आत्माओं को अकेला ज्ञान, ध्यान श्रद्धा या चारित्र कभी भी संतोष नहीं दे सकता। श्रद्धा रहित ज्ञान अथवा ज्ञानरहित क्रिया एवं क्रिया रहित शुष्क ध्यान मुक्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता। इसी कारण अकेला ज्ञान, ध्यान, श्रद्धा अथवा चारित्र को मुक्ति का मार्ग नहीं माना जाता, परन्तु श्रद्धा, ज्ञान, क्रिया और ध्यान इन चारों का सुमेल ही मुक्ति मार्ग है। इतना ही नहीं, पर इन चारों की सम्पूर्ण शुद्धि भी आवश्यक है।

चारों की शुद्धि

(१) श्रद्धा की शुद्धि अर्थात श्रद्धेय वस्तु श्रद्धावान आत्मा और श्रद्धा के साधनों की शुद्धि।

(२) ज्ञान की शुद्धि अर्थात ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान के साधनों की शुद्धि।

(२) क्रिया की शुद्धि क्रिया क्रियावान् और क्रिया के साधनों की शुद्धि।

(४) ध्यान की शुद्धि अर्थात् ध्येय, ध्याता और ध्यान के साधनों की शुद्धि।

श्री जैन शासन में अरिहन्त में वीतराग देव, उनके मार्ग में चलने वाले निर्ग्रन्थ साधु तथा उनका बताया हुआ सुचारित्र स्वरूप धर्म है।

वीतराग देव

रागद्वेष मोहादि दोषों से सम्पूर्ण जगत पर विजय प्राप्त की हुई है उन दोषों पर भी जिन्होंने विजय प्राप्त की है वे जिन अर्थात् जीतो जगत के विजेता कहलाते हैं। दोषों के ऊपर विजय प्राप्ति का दूसरा नाम ही वीतरागता है। वीतरागता प्रति श्रद्धा का तात्पर्य दोषों के विजय प्रति श्रद्धा है। जगत में जिस प्रकार दोष है वैसे ही इन दोषों पर विजय प्राप्त करने वाले भी हैं यह श्रद्धा दोषों के विजेताओं पर अविचलित उत्पन्न करती है। दोषों को जीतने वालों के प्रति अविचलित एक प्रकार का वेदक रस है। जिस प्रकार वेदक रस हमारे को भी कोमल बना देता है, वैसे ही दोषों के विजेताओं के प्रति अर्पित राग जीवन्ती साधु को दुष्ट कार्यों से बचाने वाला दोष रहित एवं सदैव शुभ उत्पन्न कराने की क्षमता रखता है।

दोष विहीनता एवं गुण सम्पन्नता सहचारी है। जिस प्रकार अन्धकार का नाश और प्रकाश का उदय एक साथ ही होता है वैसे ही दोषों का नाश एवं गुणों का प्रकाश भी एक साथ होता है। वीतराग दोषों के विजेता हैं, अतः वे गुणों के

प्रकर्षमय है। वीतराग के प्रति श्रद्धा में जिस प्रकार दोषों के विजय की श्रद्धा व्यक्त होती है, उसी प्रकार गुणों के प्रकर्ष के प्रति भी श्रद्धा अभिव्यक्त होती है। इन दोनों के प्रति श्रद्धा से उत्पन्न भक्तिराग भी जब उसके प्रकर्ष को प्राप्त होता है, तब वह आत्मा को एक क्षण-अन्तर्मुहूर्त में वीतराग सम बना देता है।

निर्ग्रन्थ गुरु

जैन शासन में श्रद्धेय रूप में प्रथम स्थान पर जिस प्रकार वीतराग है, वैसे ही दूसरे स्थान पर निर्ग्रन्थ गुरु है। निर्ग्रन्थ गुरु अर्थात् वीतराग नहीं होते हुये भी वीतराग बनने के लिये सतत् प्रयत्नशील है। ग्रन्थ का अर्थ परिग्रह है और जैनशासन में परिग्रह का अर्थ मूर्च्छा ममत्व होता है। आत्मा और उनके गुणों के अतिरिक्त जगत के किसी भी पदार्थ के प्रति (मूर्च्छा के अत्यन्त कारण भूत स्वशरीर के प्रति भी) ममत्व अथवा राग भाव धारण नहीं करना ही निर्ग्रन्थता का प्रकर्ष है। आत्मा और उसके गुणों के प्रति राग वह मूर्च्छा या ममत्व रूप नहीं, परन्तु स्वभाव रमणतारूप है। स्वभाव रमणता दोष नहीं परन्तु वस्तु का निज स्वरूप है अतः वह सहज तथा निर्दोष है। निर्ग्रन्थता के प्रति श्रद्धा यह वीतराग भाव के प्रति ही श्रद्धा का एक प्रकार है। वीतराग दोष रहित है और निर्ग्रन्थ गुरु दोष सहित होने पर भी दोष रहित बनने का प्रयास कर रहे हैं। दोष के अभाव में दोष मुक्त रहना यह तो सहज स्वभाविक है, परन्तु दोष की उपस्थिति में दोषों के आधीन न होना यह आसान नहीं है। के आक्रमण के सामने स्थिर बने रहना और दोषों को मूल से उखाड़ देने हेतु सतत प्रयत्न करते रहना यह निर्ग्र- है। यही निर्ग्रन्थता वीतराग की सखी है। ऐसी निर्ग्र-

न्यता को प्राप्त किये हुए महापुरुषों के प्रति भक्ति भाव करना भी सच्ची वीतरागता की भक्ति का ही प्रतीक है। वीतराग के प्रति भक्ति भाव जिस प्रकार दोषों का दाहक और गुणों का उत्पादक है, वैसे ही निर्ग्रन्थ के प्रति भक्ति भाव भी दोष दाहक तथा गुणोत्तेजक है।

श्रुत चारित्र धर्म

जैन शासन में अद्वितीय रूप में प्रथम स्थान जिस प्रकार वीतराग का है, और दूसरा स्थान निर्ग्रन्थ का है। वैसे ही तीसरा स्थान वीतराग भाषित और निर्ग्रन्थ पालित श्रुतरूप और चारित्र रूप धर्म का है।

श्रुत धर्म की श्रद्धा का अर्थ वीतराग के वचन स्वरूप शास्त्र में बताये हुये पदार्थों तथा तत्त्वों पर विश्वास है अर्थात् वस्तुतः निश्चित सत्यों (त्रैकालिक) यह द्रव्य और (लोकालिक) नव तत्त्वों का स्वरूप जिस प्रकार बताया है वे उसी प्रकार ही हैं, ऐसी अविचल श्रद्धा एवं विश्वास। इस विश्वास के बल पर जगत् का स्वभाव और मोक्ष का स्वरूप जैसा है वैसा यथार्थ रूप से जानने एवं समझने का अवसर मिलता है। जिससे यथार्थ स्वरूप समझ कर श्रुत चारित्र धर्म की भी प्राप्ति होती है।

चारित्र धर्म एक ऐसी वस्तु है कि जिसकी जब तक पूर्ण अथवा आंशिक प्राप्ति न हो तब तक यह जीव दूसरों को वीतरागता के कुछ नहीं दे सकता तथा कहा तक यह जीव पर दोषों से अपना आत्म भी मिन्न न कर सकता तब तक अपने पर आ पड़ी हुई आपत्ति अथवा अपनायी दोषमय दशा नहीं बदल सकती। चारित्र का उत्पत्ति स्थान दर्शन से भिन्न है। यह

निमित्त मन से, वचन से, अथवा काया से जब तक लेशमात्र भी होता है, तब तक तन्निमित्त कर्म बंधन प्रारम्भ ही रहता है। इससे छूटने का उपाय हिंसादि पाप स्थानों से त्रिविध त्रिविध विरति-निवृत्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जब तक यह निवृत्ति नहीं होती, तब तक कर्म का आश्रव रुकता नही है और एक बार भी कीये हुये कर्म का आश्रव अपना फल आत्मा को दिये बिना नहीं रहता। कहा है कि:-

'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।'

बांधा हुआ कर्म भोगने के बिना करोडों कल्पों में भी नष्ट नहीं होता।

परपीडा पाप है, और परोपकार पुण्य है, ये दोनों बाते एक और एक दो जैसी स्पष्ट है, फिर भी जिनको इस विषय में थोडा भी संदेह हो उनको विचार करना चाहीये। जब कोई अपने को दुःख देता है, तो हमें यह विचार आता है कि वह पाप कर रहा है, तथा यदि कोई अपने पर उपकार करता है तो क्या हमें ऐसा लगता है कि वह पुण्य का कार्य कर रहा है, यदि ऐसा आभास होता है, तो जो नियम अपने लिये ही सत्य है, उसे दूसरों के लिये सत्य नहीं मानने का क्या आधार है? कोई नहीं। काटे में से कांटें एवं अनाज में से अनाज यह सृष्टी का अटल नियम है। इस नियम के अनुसार ही पीडा में से पीडा और उपकार में से उपकार होना ही सिद्ध होता है। चारित्र धर्म पर पीडा का परिहार स्वरूप और परोपकार का प्रधान अंग है। उस चारित्र धर्म पर श्रद्धा और उसके पालन के शुभ एवं कल्याकारी फल के प्रति अखंड विश्वास भी सद्भक्ति और सदाकी प्रेरणा का बीज है।

प्राणियों को लेशमात्र भी पीड़ा न हो, और संयम में आने वाली दोष आत्माओं को शुद्ध धर्म की प्राप्तिरूप परम आलोकधार हो, ऐसे चारित्र का पालन और उसके उत्तम नियम भी जैन शासन में सूक्ष्म रीति से बताए गये हैं। इन सब का समावेश 'चरण सित्तरी' और 'करणसित्तरी' अर्थात् चारित्र के (७०) और क्रिया के (७०) ऐसे कुल (१४०) भेदों में या संयम और शील के (१८०००) भेदों में हो जाता है। इन (१४०) और (१८०००) भेदों पर सूक्ष्म दृष्टि और मध्यस्थ दृष्टि से विचार किया जाय तो सदाचार के सर्वश्रेष्ठ अंग उसमें मिल जाते हैं। और यह विश्वास हो जाता है कि सदाचार का एक भी अंग शेष नहीं रहता। सदाचार के इन सब अंगों का निर्दोष पालन करने हेतु इच्छा मिथ्यादिक दश प्रकार की चक्रवाल सामाचारी और आवश्यक प्रतिलेखनादि अनेक प्रकार की दृष्टि दिन की समाचारी का पालन भी जैन शासन में बताया गया है। इससे इन सभी भेदों के पालन में उपयोगशून्य जीव को जीवन में सदाचार के भंग होने का अवसर नहीं रहता।

मन की शुद्धि के लिये अशुद्ध वासनाओं की शुद्धि की आवश्यकता रहती है। इसी शुद्ध वासनाओं पर होने वाली मन्त्र किसी की आत्मा को पवित्र बना सकती है इसमें कोई शक्ति का स्थान नहीं है।

आत्मा की शुद्धि

अब अब्राह्मण आत्मा की शुद्धि की बात करें। अब्राह्मण शुद्ध है या शुद्ध के लिए यह जरूरी होता है। अब्राह्मण का आचरण करने वाली आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही होना चाहिये

कि वह श्रद्धेय बने है। आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एका
क्षणिक माना जाय, एकान्त शुद्ध अथवा सवथा निर्गुण मान
जाय। शरीर से एकान्त भिन्न अथवा एकान्त अभिन्न माना जाय,
तो केवल श्रद्धा ही नहीं अपितु किसी भी गुण की प्राप्ति अप्राप्ति
घट नहीं सकती। श्रद्धा, ज्ञान चारित्र अथवा ध्यान आदि गुणो
की प्राप्ति अप्राप्ति आत्मा मे तभी ही घट सकती है यदि आत्मा
नित्यानित्य, शुद्धाशुद्ध अथवा शरीर से भिन्नाभिन्न हो। द्रव्य
से नित्य होते हुये भी पर्याय से अनित्य, मोक्ष में शुद्ध होते हुये
भी ससार में अशुद्ध, निश्चयनय से शरीर से भिन्न होते हुये भी
व्यवहार नय से अभिन्न, इस प्रकार की आत्मा को नहीं माना
जाय तो श्रद्धादि गुणों की प्राप्ति अप्राप्ति का विचार निरर्थक
ठहरता है, और इन विचारों को बताने वाले शास्त्र भी कल्पित
बन जाते हैं। श्री जैन शासन में आत्मा का जिस प्रकार का नित्या-
नित्यात्मक रूप बताया है, यदि उसी प्रकार माना जाय तो मोक्ष
मार्ग का निरूपण श्रद्धेय बनता है।

श्रद्धा आदि के साधनों की शुद्धि

जिस प्रकार श्रद्धेय पदार्थों और श्रद्धावान आत्मा की
शुद्धि आवश्यक है, उसी प्रकार श्रद्धा के साधनों की शुद्धि की
आवश्यकता रहती है। श्री जैन शासन में श्रद्धा उत्पन्न करने के
दो प्रकार के साधन कहे गये हैं।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति जैसे निसर्ग से होती है वैसे
अधिगम से भी होती है। निसर्ग का अर्थ है जिस में आत्म
निरिक्त अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं। अधि

का अर्थ है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे गुरु ब्रह्मेशादि साधन की इसमें निहित है। मात्र निमग्न में सम्बाहन की प्राप्ति मानने अथवा मात्र अधिगम से ही सम्बाहन की प्राप्ति मानने में प्रत्यक्ष बाधा है किसी विशिष्ट कोटि की साधारी आत्मा को पूर्व जन्मों के गुरु अभ्यास से इस जन्म में बाह्य निमित्तों के बिना भी अष्टादि गुणों की प्राप्ति होती है तथा किसी जीव को ब्रह्मेशादि मिलन के पश्चात् ही सम्बाहन की प्राप्ति होती है इन दोनों प्रकारों का मानना ही अष्टा के साधना की त्रुटि है।

अष्टा की प्राप्ति ज्ञान की त्रुटि दूर हो, ज्ञान और ज्ञान के साधनों की त्रुटि किस की त्रुटि दूर किया, विज्ञानमय कोश जैसा के साधनों की त्रुटि तथा ध्यान की त्रुटि दूर हो इसका और ध्यान के साधनों की त्रुटि की इनकी ही अ दरकार है।

जैन शासन में इन्द्रिय अनन्त भिन्न, इनके विषय और, पुद्गल परमाणु और स्कन्ध और और पुद्गलों की त्रुटि भिन्न तथा इसके आधारभूत द्रव्य तथा इन सबका अवगाह देने वाला आकाश और परिवर्तन करने वाला काल इन्हीं को इनके यथार्थ स्वरूप में बताया गया है।

आत्मा आत्मा को ही निश्चयनय शुद्धनय और स्वीर से भिन्नादिक बताती गयी है तथा ज्ञान के साधन (इन्द्रिय) ब्रह्मेशादि और (आत्मा) ब्रह्मेशादि ब्रह्मेशादि ब्रह्मेशादि से भिन्न है। ज्ञान के भेद, ज्ञान आदि, ब्रह्मेशादि और ब्रह्म ज्ञान पर बाह्य मूल भेद ज्ञान (ज्ञा) ब्रह्मेश ब्रह्मेशादि ब्रह्मेशादि और ब्रह्म रीति से निर्देश किये गये हैं ब्रह्मेशादि ब्रह्मेशादि ब्रह्मेश है। विषय की त्रुटि दूर ब्रह्मेश के (१०) और

चारित्र के (७०) भेद उसके असंख्य प्रभेद तथा संयम स्थान बताये गये हैं। क्रियावान आत्मा की लेश्या तथा उसकी शुद्धि अशुद्धि (१४) गुणस्थानक और उसमें असख्य भेद प्रभेद प्ररूपित किये गये है। क्रिया के (गुरुकुलवासादि) बाह्य तथा (वीर्यान्तराय क्षयोपशमादि) अभ्यन्तर साधन भी शुद्ध रीति से बताये गये हैं।

ध्यान की शुद्धि हेतु ध्येय रूप में मुक्ति, मुक्तिस्थान, मुक्ति के जीव, मुक्ति का सुख ध्याता रूप में। नित्यानित्यत्वादि स्वरूप वाली आत्मा और ध्यान के साधन रूप में बाह्य अभ्यन्तरादि बारह प्रकार के तप का सुविस्तृत और सुसंगत वर्णन किया गया है। इसलिये ये सब पदार्थ परम श्रद्धेय है।

सांगोपांग आराधना

इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तथा ध्यान इस चतुरंग मुक्ति का मार्ग श्री जैन शासन में व्यवस्थित रूप से बताया गया है। उसकी सांगोपांग आराधना जीव को थोडे ही समय में मुक्ति सुख को प्रदान करने वाली होती है, श्री जैन शासन की यह विशेषता है कि इन चारों में से किसी एक अंग की भी आराधना में चारों अंगो की साधना समन्वित है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन की शुद्धि हेतु त्रिकाल जिनपूजन (प्रात:काल और सायंकाल धूपदीपादि द्वारा और मध्याह्न काल मे जल चंदन, पुष्पादि द्वारा) कीया जाता है। इसमें श्री जिनेश्वर देवों के प्रति विनय भक्ति और आदर प्रदर्शित कीया जाता है। जिससे श्रद्धा की शुद्धि होती है। श्री जिनेश्वर केवलज्ञानी, शुक्लध्यानी यथाख्यात चारित्री है, अतः इनका पूजन, अर्चन, वंदन

मधा नवन स्नान ध्यानादि करने वाला अपनी शक्ति के अनु
पर काल क्रम में बनद जैसा ही ज्ञानी ध्यानी और चारित्रवान
हो सकता है। सम्यग्ज्ञान की शुद्धि हेतु अष्टाङ्गों का अध्ययन
अथवा शास्त्र स्वाध्याय करना है। इन्हें जानने वाला
अनुक्रम से श्रद्धा, ज्ञान चारित्र और शुद्ध ध्यान का धनी होता है।

सम्यक्चारित्र की शुद्धि हेतु पाप निवृत्ति का पालन
करने वाला अनगार साधु और साध्वी की अहिंसा आदि महाव्रत
या यति धर्म और गृहस्थ धर्म पर श्रद्धा रखने वाला अनुव्रत
पालक और अनशन तप आदि सहित सामायिक आदि ज्ञान
पूर्वक चारित्र और आदिम तीन आदि का ज्ञान करता है।

सम्यग्ध्यान की शुद्धि हेतु अनशन से लगाकर छः प्रका
रमय बाह्य किसी भी प्रकार तप करने वाला अनुक्रम धर्म तथा
अनुक्रम अर्थ को ग्रहण कर सकता है। परिणाम स्वरूप निर्मल आत्म
स्वरूप को प्राप्त कर केवलज्ञान केवलदर्शन अव्याबाध सुख तथा
अनन्त वीर्य आदि को प्राप्त करता है।

सरल कथित चार विभाग वाले योगमार्ग की संक्षिप्त
रूप रेखा पूर्वक हमारी की गई है।

आशा है कि जैन धर्म की आराधना के लिए
आराधकों को यह छोटा सा पुस्तक उपयोगी बनेगा।

—प० मुनि धर्मचन्द

卐

पू. पंन्यासजी महाराज द्वारा लिखित हिन्दी (अनुवादित) साहित्य

卐

१. महामंत्र की अनुप्रेक्षा

२. परमेष्ठि नमस्कार

पोकेट–बुक्स

१. धर्म

२. प्रार्थना

३. भक्ति

४. आत्मा व मुक्ति

卐

धर्म के आदि प्रकाशक

सच्चे परमेश्वर के रूप में पूजनीय इस जगत में यदि कोई है तो वह मात्र अरिहंत परमात्मा ही हैं। धर्म के आदि प्रकाशक भी वह ही हैं क्योंकि जिस धर्म का प्रकाशन करना है, वह धर्म अतीन्द्रिय है, अतीन्द्रिय ज्ञान को धारण करने वाले महापुरुष ही उसे उसके सच्चे स्वरूप में जान सकते हैं। जो धर्म को साक्षात् देख अथवा जान नहीं सकते, वे धर्म के विषय में जितने अनुमान लगाते हैं वे आंशिक ही सच्चे होते हैं, उसमें भी कोई सच्चा अनुमान प्राप्त हो जाता है तो उसका कारण भी अतीन्द्रिय ज्ञानियों द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थों का साक्षात् अथवा परम्परा से हुआ परिचय है, क्योंकि धर्म का दार्शनिक और आदि प्रकाशन तो धर्म के स्वरूप को साक्षात् देखने और जानने वाले ही कर सकते हैं, इसमें किसी के भी दो मत नहीं हो सकते।

श्री जैन शासन के कथनानुसार ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुष होते हैं जो धर्म के स्वरूप को साक्षात् जान और देख भी सकते हैं, तथापि उसे प्रकाशित करने के कर्मावरणरूपी एक दुर्लंघ्य पर्दा इस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान

का सामर्थ्य मात्र तीर्थंकर देवों की आत्माओं को ही प्राप्त हो सकता है। उनसे अतिरिक्त केवलज्ञानी महर्षि धर्म तीर्थ का स्थापन तथा शिष्य-प्रशिष्यादि की परम्परा से उसका अविच्छिन्न पालन और प्रकाशन करने तथा करवाने में समर्थ नहीं हो सकते। धर्म तीर्थ का प्रकाशन, चतुर्विध संघ का स्थापन तथा बुद्धि निधान गणधरादि शिष्यों द्वारा द्वादशांगी (आगमशास्त्र) की रचना, श्री तीर्थंकर नाम कर्म की सर्वश्रेष्ठ पुण्य प्रकृति का उपभोग करने वाले तीर्थङ्कर महर्षि ही कर सकते हैं। इस कारण से धर्म के आदि प्रकाशक श्री अरिहंत परमात्मा अथवा श्री तीर्थङ्कर देवों को ही मानना वास्तविक है।

श्री अरिहंत देव

अरि अर्थात् राग द्वेषादि आन्तरिक शत्रु, उनके हंत अर्थात् हनन करने वाले देव ही अरिहंत देव है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि राग द्वेषादि अंतरंग शत्रुओं के हंता अकेले श्री अरिहंत देव ही होते हैं, अन्य कोई नहीं। सर्व केवलज्ञानी महर्षि और सिद्ध परमात्मा आंतरिक शत्रुओं पर सर्वथा विजय प्राप्त करके ही केवल[illegible] अथवा श्री सिद्धिपद को प्राप्त करते हैं परन्तु आन्त[illegible] नाश करने के उपरांत श्री अरिहंत देवों के

आत्मा में विशिष्ट प्रकार की अन्य अलौकिक विभूतियाँ भी विद्यमान होती हैं। उन विभूतियों में प्रधान विभूतियाँ (प्रतिष्ठादात्रि द्वारा) त्रिभुवनवर्ती-विशिष्टनामक पूज्यता और निरतिशय वचनातिशयता ये दो हैं। ये दो विभूतियाँ श्री अरिहंत देवों की मुख्य हैं जो अन्य किसी आप्त पदार्थों में था कभी नहीं होता। रागद्वेष और मोह से सर्वथा रहितता तथा जगत के समस्त पदार्थों की समग्र प्रकार से अपना सभी केवलज्ञानियों में समान होते हुए भी जिस प्रकार की विशुद्धतमरूपता और परम पदार्थता श्री अरिहंत देवों की आत्मा का प्राप्त हुई है, वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय पूजातिशय एवं वचनातिशय इन चार लोकोत्तर अद्भुत अंशुमानों के धारक श्री अरिहंत देव ही जगत में सत्य परमेष्ठि हैं और उनकी जो आप्त उपदेश नाम था जैन शासन है।

श्री अरिहंत परमात्माओं ने जिस निर्दोष शासन की स्थापना की उसका सेवा करना प्रत्येक आत्मा का परम तथा आवश्यक कर्तव्य है। इस शासन की सेवा इस शासन द्वारा बताए गए मार्ग की आराधना द्वारा ही संभवित है। इसलिए इस शासन ने आराधना के लिए जिस मार्ग का मार्ग दर्शाया है, वह मार्ग मुक्ति में अन्य सभी मार्ग

आवश्यक है। उससे पहले एक बात समझ लेनी चाहिये कि शास्त्रकार महर्षियों की ओर से शासन की सेवा करनी चाहिये ऐसी जहां भी आज्ञा की जाती है वहां वह 'सेवा' शब्द बहुत विशाल अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सामान्य रूप में 'सेवा' शब्द का जहाँ जहाँ प्रयोग आता है, वहां सर्वत्र जिसकी सेवा की जानी है उसे प्रसन्न करने की क्रिया के अर्थ में वह शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे कि लौकिक धर्मों में ईश्वर सेवा, देव-देवी की सेवा, गुरु की सेवा इत्यादि समस्त प्रयोगों में सेव्य की प्रसन्नत सम्पादन करने का अर्थ छिपा हुआ है। लोक व्यवहा में भी यही नियम है यथा राज सेवा, मां बाप की सेवा गुरु शिक्षक की सेवा, स्त्री-पुत्रादि की सेवा, स्वजन परिवार की सेवा, लोक अथवा देश बन्धुओं की सेवा, सभी प्रयोगों में उन उन व्यक्तिओं की प्रसन्नता सम्पादन करने का हेतु व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में विद्यमान ही है अथवा ये सारी सेवाये व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में उस उस सम्बद्ध सेव्य को प्रसन्न करने का सामर्थ्य रखती हैं।

शासन सेवा ही आत्म सेवा

श्री जैन शासन की सेवा में उपर्युक्त अर्थ से तदन्त ही अर्थ है। यह कही जाती है शासन की सेवा,

परन्तु इसमें होती है स्वयं की ही सेवा । बाह्य दृष्टि से यह किसी अरिहंत आदि शासन के नायक की सेवा के रूप में दिखाई देती है परन्तु इन शासन नायकों की सेवा से वास्तव में तो स्वयं का आत्मा ही सिद्धती है।

श्री जैन शासन की सेवा कोई अलौकिक वस्तु है। इस शासन की सेवा का कार्य करने की अपेक्षा स्वयं की आत्मा की सेवा का कार्य करना ही अधिक उपयुक्त है।

सेवा का मार्ग

श्री जैन शासन की सेवा इसके बताये हुए आराधना के मार्ग से ही हो सकती है, किन्तु इस मार्ग का यथार्थ पहचान करनी आवश्यक है। श्री जैन शासन आराधना के लिए जो मार्ग बताता है, वह मार्ग द्रव्यों की अपेक्षा रखकर है तथा भाव करने की मान्यता है। यह कारण है कि वर्तमान युग में जैनागमों में दर्शित आचार विचारों का पालन प्रायः असंभव है और इसी कारण उन शास्त्र ओं आचार और विचार दर्शाने हैं वे दूसरों की तुलना में संक्षिप्त होने हुए भी मात्र ग्रन्थों में ही रह गये हैं। वर्तमान युग में उनका कुछ भी प्रभाव नहीं है अथवा गया है तो वह इस प्रकार के कुछ मात्र 'जुनु तेह मेंचु' इस प्रकार के कहने मात्र तथा इस विषय में रूप में न छोड़ने जैसे (अपवाद) लोगों पर निर्भर रहा है।

श्री जैन शासन और उसके चुस्त अनुयायियों पर इस प्रकार का आक्षेप विचारणीय है। श्री जैन शासन द्वारा दर्शित आचार विचारों, इनका पालन और आचरण वर्तमान युग में असंभव है, ऐसा कहना क्या सत्य है ? इसके अनुयायी बद्धाग्रह के कारण उसे पकड़े रहते हैं और छोडते नहीं, ऐसा कहना क्या न्यायसंगत है ? ऐसा कहने से तो एक सुशक्य और उपकारक शासन की आराधना से जगत को अकारण वंचित रखना होगा तथा एक सर्वश्रेष्ठ शासन का सुविचारपूर्वक आदर करने वाले सुविवेकी वर्ग के प्रति घोर अन्याय करने जैसा होगा। श्री जैन शासन दर्शित आचार विचार मनुष्य को उसके नित्य जीवन में कितने उपकारक हैं और उनके पालन से अल्प प्रयत्न से ही वे कितने प्रकार के बाह्य अनर्थों से बच पाते हैं, इसका जब जब इस दृष्टि से विचार किया जाता है, तब तब इस शासन के संस्थापक महापुरुषों पर एक अपूर्व भक्ति भाव जागृत हुए बिना नहीं रहता

आज की परिस्थिति

मनुष्य जाति को आपत्ति से उबार लेने हेतु आज अनेक प्रकार की शोध, खोजें हो रही हैं और उनके पीछे प्रतिवर्ष लाखों करोड़ों और अरबों रुपये खर्च किये जा

रहे हैं, फिर भी हम सुनते हैं कि मनुष्य जाति पर आए दिन नित्य प्रति चढ़ती ही आ रहा है। नित्य नयी नयी औषधियां, जैसे ही नित्य नए नए रोग भी बढ़ते हैं नित्य नये नये कारखाने निर्मित होते जाते हैं वैसे ही नित्य नए नए बेरोजगार भी बढ़ते जाते हैं। नित्य नए नए दुःख उपभोग खोज जाते हैं, वैसे ही संसारों में नित्य अप्रत्याशित अनजानी नई मौतें भी आती जाती हैं। दुःख बोझ व नष्ट शक्ति अधिक थी। दुःख दूर करने शक्ति के लिए बाजार कम पड़ गये। नित्य नए उत्पन्न होने वाले बोझ को संसार के लिए एक साधन की दृष्टि दूसरे राज्य पर पड़ी और एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र पर सत्ता प्राप्ति की वृत्ति हुई। भूमि, सम्पत्ति अथवा स्त्रियों के लिये युद्ध होते सुने हैं, परन्तु मात्र संसार के लिए बाजार हस्तगत करने के लिए युद्ध होते कभी नहीं सुने। आज के दुःख उपभोग और शोषण खोज के युग में मात्र संसार के लिए बाजार हस्तगत करने हेतु लाखों मनुष्यों का दानव संहार जिसके सीधे जिम्मेदार हैं वैसे घोर नर संहार कर जाते हैं और इसका अन्त कब होगा इसकी किसी को खबर नहीं। मनुष्य दुःखों के दूर और सुखों के लिए इस प्रकार जितने साधन करता जाता है। उतने उतने दुःख और आपत्ति में और वृद्धि करता जाता

ही सिद्ध होते जा रहे हैं । श्री जैन शासन के आदेश और उपदेश का यथाशक्ति पालन करने वाला इस प्रकार की आपत्ति और पीड़ा से कैसा अछूता बच जाता है यह बहुत समझने योग्य है ।

भोजन का प्रभाव

श्री जैन शासन के आदेश और उपदेश का यथाशक्ति पालन करने वाली आत्मा रोग से ग्रसित नहीं होती ऐसा नहीं, परन्तु मात्र कर्मोदय जनित रोग की पीड़ा ही इसे सहनी पडती है । शक्ति और सौन्दर्य के लिये नयी नयी दवाइयों का उपभोग करने से उत्पन्न होने वाले नये नये रोगों का भोग वह कभी नहीं होता । दवाइयों का उपयोग नहीं करने के साथ उसके द्वारा मान्य शासन के आदेशानुसार वह अभक्ष्य अथवा अनन्त काय का भी कभी भोजन नहीं कर सकता । श्री जैन शासन द्वारा मान्य अभक्ष्य या अनन्तकाय इस प्रकार के पदार्थ हैं कि इनका भोजन करने वाला आत्मा पूर्व का तीव्र पुण्योदय न हो तो क्वचित ही आगन्तुक रोगों का भोग होने से बच सकता है । बासी या विदल तुच्छ फल या अनजाने फल

रस या अचार, मांस या मदिरा, मधु य
, बरफ या ओले, बहुबीज या अनन्त काय, रात्रि

मोक्ष या भूमि पर इत्यादि का मूल्य ये सब लोगों का घर है, इसका आज के वैज्ञानिक युग में किसी न भी इन्कार किया जा सकता है ? सोने की एक प्रसिद्ध पत्र कार अपने पत्र में एक लेख प्रकाशित कर बताता है कि—

"जमीन के घरे से यह स्नायविकमण्डी हाल में अपनी छोटी रचा मोटर में घटने वाली घटना सभी सुगंध के बारे में कई प्रकार के प्रयोग कर अमुक गाय से गाय के अमुक अवयव अथवा अंग पर अमुक प्रभाव पड़ता है, अथवा अमुक प्रकार की सुगंध का इसके पर अलग प्रकार का अलग ढंग प्रभाव होता है, इत्यादि विषयों में विज्ञान की सहायता से सिद्ध कर रहे हैं, जिनमें से अन्तिम ढंग तो बहुत ही दिलचस्प कार्य है।

हुए प्रकाशित यह बात निर्मूल लगती होगी, परन्तु उपर्युक्त सम्बन्ध का सहज दोहन कर हम अनेक उदाहरण इस जड़ समाज में से मिल सकते हैं।

हम जैसी सुगंध में रहते हैं उस प्रकार के विचार आने लगते हैं जिसका प्रभाव साधु के अभिनय पर भी पड़ता है। मनोविज्ञान के अनुसार विचार सूक्ष्म स्पन्दन के रूप, रङ्ग और रस पर आधारित है। हम जिस प्रकार का आहार लेते हैं, उस प्रकार का अन्न का सूक्ष्म प्रभाव अपने विचार, वाणी और व्यवहार पर होता है।

"फ्रांस साम्राज्य की प्रगति में परिवर्तन होने का कारण यह था कि जब मस्तिष्क को सन्तुलित रख कर उचित सैन्य संचालन करने की आवश्यकता थी तब नैपोलियन ने प्याज खाया था। प्याज के प्रभाव वश उसने सैन्यव्यूह रचना करने में भारि भूल करदी थी और परिणामस्वरूप लिप्जिग के महत्व के युद्ध में उसे हार खानी पड़ी थी।

"आहार शास्त्र के अध्ययन से समझ में आता है कि मनुष्य को होने वाली व्याधियों में सौ में से निन्नया नवे प्रतिशत व्याधियां अयोग्य खानपान अथवा सीमा से अधिक खाने से होती हैं। बत्तीस प्रकार के पकवानों और तैतीस प्रकार के शाकों से परसी हुई श्रीमन्त लोगों की दबदबे वाली थाली में अजीर्ण, संधिवात, जलोदर, ज्वर और दूसरे रोग गुप्त रुप से छिपे हुए होते हैं।

"स्पेन का पांचवा चार्ल्स शय्या से उठते ही पांच वस्तुओं का जलपान करता, मध्याह्न बारह बजे भोजन लेता, सायंकाल बीस वस्तुओं के साथ साथ भांति भांति की शराब चटाता और मध्यरात्रि में पुनः खाता इस प्रकार के खान पान से वह पैंतालीस वर्ष की वय विनष्ट अवस्था हो गया था।

"जगत का महान पापी मा नीचे मध्याह्न से अर्ध रात्रि तक खाता ही रहता था। कभी चुल्हा एक ही समय के सायंकालीन भोजन में क्या लाभ स्वयं खाता था और साहब का व्यवहार तो अनाचार से पूर्ण था। अधिक आहार, मद्यपानादि व्यसन एवं निर्दयता सर्वत्र साथ ही रहते हैं।

आरोग्य की दृष्टि से भी मात्र जिह्वा तृप्ति के लिये इन्द्रिय को पीड़ित करने वाले आहार के परित्याग पूर्वक संयम किया जाय, तो सागारधर्म का पालन होता है। इतना ही नहीं परन्तु द्रव्य, क्षेत्र और काल का भी संयम होता है।

इत्यादि इत्यादि अनेक ही ऐसे आहार सम्बन्धि दोष दर्शन द्वारा प्रभाव के विषय में लिखा है। अतः कहा जाता है कि 'जैसा आहार वैसी डकार' इसी प्रकार अर्थात् आदि दोषों से भी उसी प्रकार का सम्बन्ध है कि 'मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है' इत्यादि। एवं अनुभव का कोई खंडन नहीं कर सकता है। मनुष्य को किसी रोग के लिये जैसे अपथ्य कहते हैं वैसे ही आरोग्य करने के लिये भी उसी तरह मनुष्य को इच्छानुसार खाने के लिये भी उसी का उपदेश है। इस पर से यह समझ लेना कठिन नहीं है, उसका यह तात्पर्य है कि कुछ

"फ्रांस साम्राज्य की प्रगति में परिवर्तन होने का कारण यह था कि जब मस्तिष्क को सन्तुलित रख कर उचित सैन्य संचालन करने की आवश्यकता थी तब नैपोलियन ने प्याज खाया था। प्याज के प्रभाव वश उसने सैन्यव्यूह रचना करने में भारि भूल करदी थी और परिणामस्वरूप लिप्जिग के महत्व के युद्ध में उसे हार खानी पड़ी थी।

"आहार शास्त्र के अध्ययन से समझ में आता है कि मनुष्य को होने वाली व्याधियों में सौ में से निन्नयानवे प्रतिशत व्याधियां अयोग्य खानपान अथवा सीमा से अधिक खाने से होती हैं। बत्तीस प्रकार के पकवानों और तैंतीस प्रकार के शाकों से परसी हुई श्रीमन्त लोगों की दबदबे वाली थाली में अजीर्ण, संधिवात, जलोदर, ज्वर और दूसरे रोग गुप्त रूप से छिपे हुए होते हैं।

"स्पेन का पांचवा चार्ल्स शय्या से उठते ही पांच वस्तुओं का जलपान करता, मध्याह्न बारह बजे भारी भोजन लेता, सायंकाल बीस वस्तुओं के साथ साथ भांति भांति की शराब चटाता और मध्यरात्रि में पुनः खाता। इस प्रकार के खान पान से वह पैंतालीस वर्ष की वय में बिल्कुल अशक्त हो गया था।

"जगत का महान पापात्मा नारकी मनुष्य भी अर्द्ध रात्रि तक खाता ही रहता था। कर्मपुत्र एक ही समय में सायंकालीन भोजन में सवा सात रुपये खर्च करता था और सीजर का व्यवहार तो अत्याचार से पूर्ण था। अधिक आहार, मद्यपानादि व्यसन एवं विषया सर्व साथ ही रहते हैं।

आरोग्य की दृष्टि से भी मात्र निद्रा तुष्टि के वास्ते शरीर को पोषित करने वाले आहार के पदार्थ जो विचार पूर्वक पसंद किये जाय, तो रोगावस्था का नाश होता है। इतना ही नहीं परन्तु द्रव्य, श्रम और डाक्टर की फीस का भी बचाव होता है।

इत्यादि इत्यादि बहुत सी बातें आहार से शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव के विषय में लिखी हैं। अपने यहां कहावत है कि 'जैसा आहार वैसी डकार' उसी तरह जर्मना आदि देशों में भी उसी प्रकार की कहावतें हैं कि 'मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है' इत्यादि। इस अनुभव का कोई खंडन नहीं कर सका है। मनुष्य को निरोग रखने के लिये जैसे अभक्ष्य भक्षण के त्याग की आवश्यकता है उसी तरह मनुष्य को दयालु रखने के लिये भी उसी की आवश्यकता है। इस पर भी इसका जितना पालन जैन कुलों में हो रहा है, उसका एक लक्षांश भी दूसरा

से नहीं होता। इस अभक्ष्य भक्षण के त्याग का पालन आज एक बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त के समस्त आत्मा संस्कारी जैन कुलों में चुस्ती एवं किसी भी प्रकार के दबाव, अभिमान अथवा आडंबर बिना नैसर्गिक रुपसे कर रहे होंगे इस सत्य का किसी के द्वारा भी निषेध हो सके वैसा नहीं।

उद्धार का मार्ग

आरोग्यादि किसी भी प्रकार की अभिलाषा के बिना उपर्युक्त पदार्थों का जीवनपर्यंत सर्वथा त्याग, किसी भी प्रकार के आडम्बरादि को धारण किये बिना भोगों को ही एक तत्त्व मानने वाले आज के जडवाद प्रधान काल में अनेक आत्मायें अखंडित रूप से आचरण कर सकें यह प्रभाव कोई साधारण नहीं और यह प्रभाव श्री जैन शासन द्वारा दर्शित आराधना के मार्ग का ही है इसका किसी के द्वारा इन्कार नहीं किया जा सकेगा।

अनंतर्य पदार्थों का भक्षण आरोग्य में बाधक है, यह आज उस प्रकार के अनेक सत्यशोधक डाक्टरों अथवा आरोग्य शास्त्र के अभ्यासियों को स्वीकार करना पड़ा है। इसके लिये हमें भी उसका जीवन पर्यन्त त्याग करना [illegible] आसन और उसकी आराधना को न प्राप्त [illegible] के लिये अशक्य नहीं। इतना ही नहीं,

परन्तु उनके पास उनके अन्दर के अभक्ष्य पदार्थ का भी अपटित रूप में त्याग करवाना बहुत कठिन है। जब कि शरीर के आरोग्य संरक्षणार्थ भी उन प्रकार के अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का त्याग जनता के लिए अशक्य असंभव बन गया है तब उसी युग में जीव रक्षा के लिए, परलोक के पारमार्थिक हित हेतु अथवा केवल धर्म शास्त्र कारों की आज्ञा के पालनार्थ हमारा बालक एवं बालिकायें युवक और युवतियाँ, प्रौढ और प्रौढायें, वृद्ध तथा वृद्धायें उनका सर्वथा त्याग कर रहे हों, यह बात क्या कम अनुमोदनीय है? इन अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के त्याग से सहज रूप से ही इनके त्याग का आचरण करने वाले उन पदार्थों के भक्षण से उत्पन्न होने वाले हजारों रोगों से अपने आप बच जाते हैं। इतना ही नहीं, परन्तु जीवरक्षादि आत्मा के उच्च अध्यवसाय स्थायी रह सकते हैं। ऐसी आत्मायें अपनी सात्विक, दयालु और कोमल अहिंसक भावनाओं को इस घोर हिंसक युग में भी जीवन के अन्त तक रक्षण कर सकती हैं।

जगत को शारीरिक रोग और मानसिक व्याधियों से मुक्त करने के लिये इतनी इतनी औषधियों का प्रयोग तथा साहित्य एवं तत्वज्ञान प्रचारित होते हुए भी जिन रोगों और व्याधियों का तथा उनसे उत्पन्न होने वाले

उपद्रवों का निवारण नहीं हो सका, वह श्री जैन शासन की दर्शाई हुई आराधना के एक प्राथमिक, स्वल्प और सहजता से आचरण किया जा सके ऐसे अंग को अपना लेने से हो सकता है।

श्री जैन शासन द्वारानिषिद्ध एक अभक्ष्य भक्षण का त्याग यदि समस्त सृष्टि सहर्ष स्वीकार कर ले, तो कितने उपद्रवों से बिना आडंबर, बिना धन के व्यय अथवा बिना दूसरों को कष्ट दिये बच जाये?

मनुष्य जाति अभक्ष्य का भक्षण करती है, रोग से पीड़ित होती है और फिर उसके संरक्षण के लिये निरपराध पशु और जंतुजगत का संहार करके दवायें उत्पन्न करने वाले दयालु माने जाते हैं, इसकी अपेक्षा मनुष्य जाति को अभक्ष्य भक्षण से ही बचा लेने का प्रयास करने वाले परम दयालु हैं ऐसा न मानने का क्या कारण है?

निरपराध प्राणियों के संहार से मनुष्य जाति पर लदने जाने पाप का भार क्या मनुष्य दया की आड़ में ढंक जायेगा? पाप तो पाप ही और उसमें भी निरपराध त्रस जन्तुओं की हिंसा यह तो घोर पाप है, इसके विपाक अतिरुद्र करते हैं तथा एक बार पाप कर लेने के पश्चात् उसके परिणाम से किसी से भी छूटा नहीं जा सकता यह [illegible] है। इसके सम्मुख आंख मिचौनी करने से

मनुष्य जाति का क्या भला होने वाला है ? श्री जैन शासनाधन अभक्ष्य भक्षणादि के त्याग की बातें वर्तमान युग में किसी के लिये उपयोगी हो सके ऐसी नहीं। इस प्रकार के व्यर्थ के उत्तरों द्वारा उनमें से दूर जाने का प्रयत्न करना स्वयं को गलत में डालने के समान है।

महारंभों का भी त्याग करना चाहिये

अभक्ष्य भक्षण का जीवन पर्यंत त्याग, यह जैसे श्री जैन शासन का आदेश है वैसे आजीविका अथवा जीवन निर्वाह के साधन प्राप्त करने के लिये तथा व्यापारादि से धनवृद्धि के लिये भी जिनमें महारंभ यावत् पंचेंद्रिय प्राणियों का भयंकर विनाश होता है, ऐसे व्यवसाय नहीं करने का फरमान भी श्री जैन शासन में ही किया गया है। इस फरमान से उन उन धंधों में नाश को प्राप्त होते प्राणियों को अभयदान मिलता है। इतना ही नहीं, परन्तु ऐसे महारंभ जनित व्यापारों से कृत्रिम रूप से उत्पन्न होने वाले और मनुष्यों के सुख और सुविधाओं में वृद्धि कर देने के कल्पित नामधारी बहुत से पदार्थ, मनुष्य जाति पर अनेक प्रकार की नयी तकलीफें खडी करते हैं, वे अटक जाती है क्योंकि इस प्रकार से उत्पन्न होने वाला अधिक माल खपाने के लिये आपने सामने देशों में प्रति

स्पर्धा जागती है और युद्ध के भयंकर वातवरण में मनुष्य जाति ऐसी फंस जाती है कि जिसमें से उबरना उसके लिये असंभव हो जाता है ।

जीव रक्षा के विशुद्ध परिणामों से किये जाने वाले आजीविकादि हेतु भी होने वाले महारंभो का त्याग इत्यादि मनुष्य जाति के सुख और शान्ति में वृद्धि करने वाले हैं; जबकि उसके अतिरिक्त के उपाय निरर्थक आपत्तियों को खींच लाकर मनुष्य जाति को विनाश के मार्ग पर ले जाने वाले हैं । आज हम देख सकते हैं कि, अभक्ष्य भक्षण के त्याग के जैसे, श्री जैन शासन के इस आदेश को भी प्रेम से अपनाने वाले अनेक गुणवान मनुष्य हैं, जो कि स्वयं एक या दूसरी प्रकार से सुख और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं, और जगत के अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों को भी सुख और शान्ति की प्राप्ति में निमित्तभूत हो सकते हैं ।

त्याग में निर्बलता नहीं

अभक्ष्य भक्षण और महारंभ वाले (जिसमें प्राणियों का घोर विनाश है) धंधों का त्याग इस प्रकार मनुष्य जाति को अपने ऊपर आ पड़ने वाली निरर्थक आपत्तियों से बचाकर सुख शान्ति के वास्तविक मार्ग पर ले जाने

पाता है। मद्य इसे नहीं जानने वाले वर्ग में से कुछ किसी भी प्रकार का मद्य या संकोच रखे बिना इन दो उत्तम नियमों पर ही दोष धरमाते हैं। वे कहते हैं कि "अभक्ष्य के त्याग के उपदेश से ही जैन समाज निमाल्य निस्तेज बनता जा रहा है और महारंभों से अर्जित धन पाप के डर से ही जैन समाज व्यवसाय विहीन होता जा रहा है।" इस कथन के पीछे तनिक भी विचार विवेक या सभ्यता नहीं। समाज को उन्नत करने की थोड़ी भी आन्तरिक लगन और विचार विवेक यदि अंतःकरण में हो, तो उपर्युक्त उद्गार कभी नहीं निकल सकते।

'जैन समाज निर्माल्य है, उसका कारण अभक्ष्य त्याग का या उसका उपदेश है अथवा जैन समाज रुपये पैसे से निर्धन होता जा रहा है, उसका कारण महारंभादि का त्याग या उसका उपदेश है' ऐसा कहना न्याय की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। अभक्ष्य भक्षण का त्याग नये उत्पन्न होने वाले रोगों को रोकने वाला है तथा सत्त्वगुण को बढ़ाने वाला है और महारंभ आदि का त्याग भी मनुष्य और इतर प्राणी जाति का विनाश रोक कर जीव दया की लगन को विकसित करने वाला है, इसके साथ ही जैन समाज के अर्थ-

पतन को जोड देना, यह तो उपकारक वस्तुओं का ही द्रोह है।

श्री जैन समाज की निर्माल्यता या निर्धनता के कारण के रूप में उसके उत्तम कोटि के आचारों या उपदेशों की कल्पना करना आरोपित करना सर्वथा अनुचित है। इस कल्पना के पीछे त्याग अर्थात् त्याग के उपदेशक धर्म के प्रति अरुचि विद्यमान है।

धर्म के लिये थोड़ा भी त्याग मनुष्य को अप्रिय हो जाता है। अभक्ष्य भक्षण आदि महादोषों का धर्म के लिये त्याग करने का उपदेश ऐसे ही किसी कारण से अमुक प्रकार के शिक्षा वाले आत्माओं को खटकता है। इन्हीं पदार्थों का या उन्हीं में से किसी भी एक पदार्थ का त्याग करने का कोई वैज्ञानिक शोधक या अमेरिकन डाक्टर कहे और वैसा न करने से अनेक प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक हानियां बताये, तो सारे सुनने को तत्पर हो जाते हैं और उसी के अनुसार पालन करना चाहिये, ऐसा भी कहने लग जाते हैं।

और अभक्ष्य और अनन्तकाय आदि के भक्षण से होने वाली शारीरिक और मानसिक हानियों को भी स्पष्ट करना शक्ति भोजन से होने वाली हानियों को स्पष्ट है और यदि उनके सामने प्रकाश करने पर लोगों को अच्छा लगे नहीं तो भी उनके वचनों का सादर उनका अवश्य स्वागत किया जायगा परन्तु उस समय यह स्वागत केवल आरोग्यादि इह लौकिक हेतुओं के लिये होगा जिससे अभक्ष्य भक्षणादि का त्याग करने से होगा जो विशिष्ट प्रकार का आत्मिक लाभ मिलने वाला था, वह भाग्य में रहेगा क्या ? तथा मनुष्य की दया की लगन को नए पल्लवित करके उस उत्तरोत्तर उच्च कोटि में पहुँचाने का ज्ञानियों का जो ध्येय था, वह भी पार पड़ेगा क्या ? यह विचारणीय है।

इससे एक दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि वैज्ञानिकों की शोधक दृष्टि लोगों पर अधिक प्रभाव डालती है और ज्ञानियों की 'ज्ञानदृष्टि' मात्र श्रद्धा पर ही निर्भर होने से मनुष्य को आकर्षित नहीं कर सकती।' परन्तु यह बात सच्च नहीं है। वैज्ञानिकों की शोधकदृष्टि से भी ज्ञानियों की 'शुद्धदृष्टि' अधिक उपकारक है तथापि इसके प्रति लोगों का आकर्षण नहीं, इसका हेतु लोगों में धर्मरुचि का अभाव है। धर्म के निमित्त थोड़ा सा भी त्याग लोगों को

अरुचिकर है जब कि शरीरादि इहलौकिक पदार्थों के लिये बलि हो जाने की बात से भी लोगों को घबराहट नहीं है। इस प्रकार का रुचिभेद यही वैज्ञानिकों के प्रति आदर और ज्ञानियों के प्रति अनादर होने का कारण है।

इहलौकिक और पारलौकिक हित

इस प्रकार का रुचिभेद आज का नहीं परन्तु अनादि काल का है। अर्थ और काम के लिये मनुष्य सर्व प्रकार के त्याग का आचरण करता है; देश को छोड़ता है, गांव को छोडता है और घर को भी छोडता है; कुटुम्ब को छोडता है, परिवार को छोडता है और धर्म को भी छोटना है।

धर्म के लिये इन सबका भोग छोडने वाला तो कोई विरला ही निकलना है। धर्म के पीछे पारलौकिक हित संकलित है, जो परोक्ष है तथा अर्थ और काम के पीछे इहलौकिक हित संकलित है, जो प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष के लिये परोक्ष का भोग छोटना सुगम है। जब कि परोक्ष के लिये प्रत्यक्ष का भोग छोटना स्वाभाविक रूप से ही दुष्कर है।

पहुँचे भी तो परलोक के विषय में अनेक प्रकार के वाद-विवाद होने से एक बात पर स्थिर नहीं हो सकती, परन्तु परलोक सम्बन्धी यह जैन शासन द्वारा दर्शाया हुआ मार्ग इतना सुनिश्चित है कि वह जिस ग्रंथ में होता है उसका परलोक सम्बन्धी सारा विवाद मिट जाता है। उसे इस लोक से भी परलोक अधिक महत्व का लगता है और वह कैसा है, इत्यादि का सुनिश्चित ज्ञान, ज्ञानियों के वचनबल से, उसके अंतर में स्पष्टरूप से अंकित हो जाता है।

श्री जिन कथित मार्ग को प्राप्त आत्माओं को यही एक विशेष लाभ है कि दूसरों की अपेक्षा वे अपने परलोक को सुधारने के लिये अधिक जाग्रत और सावधान रहते हैं अर्थात् इहलौकिक सुख के भोग से भी वे अपने परलोक को सुधारने का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञानदृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि

किसी भी प्रकार की इहलौकिक वासनाओं के बिना, केवल परलोक के निमित्त ही, उत्तम कोटि के त्याग का आचरण करती हुई प्रजा में जैन जाति का नम्बर शीर्षस्थ जैसा है। उसका कारण उसे प्राप्त हुआ परलोक विषयक ठोस और अद्भुत ज्ञान है। आज वैज्ञानिकों की ओर गई हुई दृष्टि और ज्ञानियों के प्रति आई हुई उपेक्षा,

धर्म रुचि के अभाव से ही जन्मी हुई है। ज्ञान के प्रति प्रेम मनुष्य को आज भी जितना आकर्षित ज्ञानियों के परिमाण में अल्प किन्तु सुनिश्चित विद्यमान वचनों के प्रति कर सकता है, उसका एक अंश भी वैज्ञानिकों के विशाल किन्तु अनिश्चित और सन्दिग्ध वचनों के प्रति कर सके वैसा नहीं है। वैज्ञानिकों का सार संदिग्ध और अनिश्चित है। उनकी दृष्टि दूसरे सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा दूर पहुँची हुई भी हो फिर भी अनन्त जगत की दृष्टि से तो उनका ज्ञान एक बिन्दु जितना भी नहीं होता, यह बात उनके ही वचनों से सुसिद्ध है।

वर्तमान वैज्ञानिकों में सर आइजक न्यूटन का नाम सबसे अग्रिम है गुरुत्वाकर्षण के आदि शोधक के रूप में वे पहचाने हैं। वर्डसवर्थ जैसे कवियों ने उनकी प्रशंसा

का प्रयास बन गया होगा पर उसे वह अनन्त महासागर को तो स्पर्श भी नहीं कर सका।

ऐसा कहा जाता है कि सर आइजक न्यूटन जब प्रकृति के रहस्यों की खोज में लगते थे तब वे नये नये भयंकर सत्य उनकी दृष्टि के समक्ष उपस्थित होते। अपने विशाल ज्ञान की भयंकर अनन्तता उस समय उनके मानस्पटल को चकचौंध कर डालती। वह उस महाविराट के इन अरहस्य रहस्यों से त्रस्त हो जाते और अपने अद्भुत प्रयासों को छोड़ देते थे। दूसरे शब्दों में प्रकृति के रहस्यों की असंख्य दिव्य शक्तियों संभावनाओं को स्वीकृत करने जितना उनका मन बलवान नहीं था। इसी बात को यदि शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि उनका ज्ञान प्रकृति के रहस्यों को समझने में निपट असमर्थ था। यह तो बड़े से बड़े वैज्ञानिक की बात हुई। जबकि दूसरे वैज्ञानिकों ने जो कुछ भी शोध की है वह अधिकांश सर आइजक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज होने के पश्चात् ही। इन शोधों को सामान्य मनुष्य की अपेक्षा से चाहे जितनी बड़ी मानी जाती हो तो भी अनन्त जगत की दृष्टि और इस अनन्त जगत को जानने वाले ज्ञानियों की दृष्टि से तो एक बिन्दु मात्र भी नहीं, इस बात का इन्कार किसी से भी नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक और उनके शोध इस प्रकार जब सत्य का एक अंश भी पूर्णतया नहीं शोध सके तब उनको ही आधार मान कर जीवन की समस्त प्रवृतियों को अपनाने के लिये तैयार होना, क्या दुस्साहस नहीं ?

सच्ची बात यह है कि लोक भौतिक पदार्थों को पहचानते हैं, उनसे होते और होने वाले सुखों को पहचानते हैं और वे किसी भी उपाय से मिलते हों तो उनके शोधकों को हार्दिक अभिनन्दन देते हैं। इस प्रकार की इहलौकिक सुख भोग की तीव्र लालसा ही ज्ञानियों के सत्य, सुसंगत एवं न्याययुक्त वचनों के प्रति भी आनादर का कारण बनती है ।

बढ़ सके, यह मानना योग्य नहीं है। इसी कारण ही इस प्रकार की श्रद्धा प्राप्त करने के लिये उत्तम आत्माएँ कभी भी नाखुश नहीं होतीं। जगत के व्यवहार में भी जब अपूर्ण ज्ञानी और अशुद्ध आत्माएँ प्रति श्रद्धा रख कर ही चलना पड़ता है, तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो सम्पूर्ण ज्ञानी और परिशुद्ध अन्तःकरण वाले महापुरुषों के वचनों पर श्रद्धा रखने में आनाकानी करे ?

सम्पूर्ण और शुद्ध के नाम से असम्पूर्ण और अशुद्ध आत्मा भी अपनी जाति को परिचित कराते हैं और इसीलिये यदि सच्चे ज्ञानी भी अनादरणीय ठहराये जायें तो इस नियम का इस जगत में किसी भी स्थान पर अपवाद नहीं।

साधु धर्म और श्रावक धर्म

श्री जैन शासन द्वारा दर्शाया गया मार्ग दो भागों में बंट जाता है एक साधु धर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म। ये दोनों प्रकार के मार्ग एक दूसरे से संकलित हैं। दोनों मार्गों के पीछे एक ही तत्त्वज्ञान है, एक ही आदर्श है, दोनों का एक ही ध्येय है। पालन करने की शक्ति के भेद से दोनों में भेद किया गया है, परन्तु जानने, मानने अथवा श्रद्धा रखने की दृष्टि से दोनों मार्गों में तनिक भी अन्तर नहीं। साधु भी मुक्ति के लिये ही साधुत्व का पालन करते हैं और श्रावक भी मुक्ति के लिये ही श्रावकत्व का पालन करते हैं। अन्तर इतना ही है कि, साधुत्व मुक्ति का साक्षात् साधन है जब कि श्रावकत्व मुक्ति

महापुरुषों ने भी पूरी पूरी रखी है । कुगुरुओं की जाति सुगुरुओं के नाम से न पूजी जाये, इसके लिये पासत्थादि कुगुरुओं के लक्षण बता कर इन महापुरुषों ने कहा है कि, ऐसे कुगुरु अवन्दनीय है, इनकी वंदना करने से कीर्ति भी नहीं और निर्जरा भी नहीं। अवन्दनीय का वन्दन करने से केवल कायक्लेश, कर्मबन्धन और श्री जिनाज्ञा का भंग इन तीन के अतिरिक्त दूसरा कोई विशिष्ट फल नहीं। ऐसे पासत्था (बिना कारण एक ही स्थान पर रहने वाले) ओसन्ना (चारित्र की क्रियाओं में शिथिल बने हुए) कुशीलिया (चारित्र से विरुद्ध वर्ताव करने वाले) संसक्ता (स्त्री आदि का अतिशय परिचय रखने वाले) और यथाच्छंदा (आगमज्ञान से भ्रष्ट होकर स्वच्छानुसार वर्तन करने वाले) यदि स्वयं को गुरु की भांति वंदन करवाते हैं तो वे भी कर्म बांध कर भवान्तर में घोर दुर्गति को प्राप्त करते हैं।

प्रशंसा करते हैं, तथा भ्रष्टाचारियों की भी सेवा और उपासना करते हैं, वे जानबूझ कर विरोधकों की विराधना और भ्रष्टाचारियों के प्रमादों का अनुमोदन कर, कुसाधुओं की संख्या में वृद्धि करने वाले होते हैं।

सुगुरु की निन्दा करना त्याज्य है

इसी प्रकार जो श्री जिनाज्ञा के प्रतिपालक हैं, देश, काल, धृति, संहनन, वीर्य और यथाशक्ति संयम का आचरण करने वाले हैं, शक्य आचारों का पालन और अशक्य आचारों के प्रति श्रद्धा रखने वाले हैं, उनके साथ जो शत्रुता रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की लौकिक स्वार्थों की पूर्ति उनकी तरफ से नहीं होती इसी कारण जो लोग उन्हें धिक्कारते हैं अथवा उनके उत्तम प्रकार के

वाली है, उसी प्रकार एक मा गुरु की आराधना भी सम्य
क् र पा पाप करने वाली है। एक की आराधना सब की
आराधना और एक की विराधना सब की विराधना, यह
एक सिद्धान्त है।

श्रावक का लक्षण

श्रावक का अर्थ करते हुए परम ज्ञानी पुरुष बताते हैं कि, सम्यग् दर्शन आदि सहित अणुव्रतोंनी और शिक्षाव्रतों आदि को धारण करने वाली जो आत्मा प्रतिदिन साधुजनों के पास साधु और श्रावक सबधी सामाचारी (अर्थात् निरन्तर आचरण योग्य शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित क्रिया कलाप) को सुनती है, उस आत्मा को श्री तीर्थंकर गणधरादि महापुरुष श्रावक कहते हैं। 'शृणोतीति श्रावक । सुने वह श्रावक।' परन्तु क्या सुने? उसका स्पष्टीकरण न किया जाय तो श्रवणेन्द्रिय के धारक सर्व आत्मा श्रावक बन जायें। इस कारण साधु मुख से साधु और श्रावक सम्बन्धी सामाचारी का निरन्तर श्रवण कर वह श्रावक, ऐसा स्पष्टीकरण करना पड़ा है। साधु और श्रावक सबधी उत्तम सामाचारी का निरन्तर श्रवण कर वह श्रावक इतना ही लक्षण नहीं होते हुए 'सम्यग् दर्शन आदि को प्राप्त आत्मा साधु और श्रावक सबधी सामाचारी को साधु मुख से सुने वह श्रावक।, ये

लक्षण बताने से मिथ्यादृष्टि आत्मा साधु मुख से साधु और श्रावक संबंधी सामाचारी सुने तो भी श्रावक नहीं, यह निश्चित होता है यह लक्षण स्वबुद्धि द्वारा कल्पित नहीं, किन्तु श्री तीर्थंकर गणधरादि महापुरुषों का कहा हुआ है, जिससे परम श्रद्धेय हैं।

श्रद्धा और अनुष्ठान का मूल श्रवण

नित्य गुरु मुख से धर्म श्रवण करने से नवीन नवीन संवेग, अन्तःकरण की आर्द्रता, संसार के प्रति उदासीनता और मोक्ष के प्रति तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। संवेगादि से सम्यग्ज्ञान को आकृष्ट करने वाले कर्मों का अधिक क्षयो-

धन, स्वजन और शरीरादि में ममता में पड़ कर जो आत्मायें श्री जिन वचन के श्रवण का तिरस्कार करती हैं, वे आत्मायें तुच्छ से काँच के टुकड़े के लिये चिन्तामणि रत्न को फेंक देती हैं अथवा धूल उड़ाने के लिये कल्प वृक्ष को उखाड़ फेंकती हैं अथवा गधे को चराने के लिये हाथी को बेच देती हैं। धन मनुष्य में मोह उत्पन्न करता है, परन्तु यह मोह अधिकांशतः निष्कारण कष्ट और निरर्थक चिन्ताओं को खड़ी करता है। स्वजनों का स्नेह धर्म के प्रति उपेक्षावृत्ति जगाता है और परिणामतः ये ही स्वजन शोक और क्लेश का कारण बन जाते हैं और शरीर तो अशाश्वत तथा प्रतिक्षण विनश्वर है यह सबको अनुभव की बात है, फिर ऐसे क्षणिक अशाश्वत और क्लेश के ही एक कारणभूत शरीर, धन और स्वजनादि के निमित्त श्री जिन वचन के श्रवण से कान दूर रहे? इतना विवेक प्राप्त आत्मा साधु मुख से प्रतिदिन उत्तम सामाचारी सुनने को उत्सुक रहता है तथा इस श्रवण के लिये एक भी प्रसंग को जहाँ तक सम्भव हो निष्फल नहीं जाने देती।

श्रावक के मुख्य आचार

श्रावक का यह लक्षण ही इसके आचार को सूचित कर देता है। सामाचारी का श्रवण करने

साधु और श्रावक सम्बन्धी जितने आचार हैं, उनमें अतिशय कुशल होता है तथा यह कुशलता उसे प्रतिदिन अधिकाधिक व्रत-नियम में आगे बढ़ाने वाली होती है । अभक्ष्य भक्षण का त्याग और अतिआरंभ वाले पाप के धंधों से विराम, श्रावक के प्राथमिक आचार हैं । त्रिकाल श्री जिन-पूजन, उभयकाल आवश्यक (प्रतिक्रमण) नित्य सद्गुरु-वन्दन, सद्गुरु मुख से श्री जिन वचन का श्रवण, सामायिक, पौषध, देशावगासिकादि (साधु धर्म के अभ्यास रूप) शिक्षा व्रतों का आचरण, दिशिपरिमाण, भोगोपभोग परिमाण तथा अनर्थदंड विरमणादि गुण व्रतों का पालन, बड़ी

'उनमें कुछ नहीं' ऐसा मानने और कहने वाले बन गये हैं, ये आत्माएँ भी इन आचारों की महिमा को भली प्रकार समझ सकें तथा परिणामतः ऐसा मानें कि इनके समान कोई उत्तम आचार इस जगत में नहीं ऐसी श्रद्धा पूर्वक वे भी इनका आदर करें, ऐसी इच्छा करते हैं।

जगत शान्ति और लोक कल्याणार्थी आत्माओं को अंत में भी श्रावक जीवन के आचारों को एक या दूसरे रूप में अपनाये बिना शान्ति अथवा सच्चा कल्याण संभव नहीं। लोक कल्याण या जगत शान्ति के नाम पर आज जो प्रयास हो रहे हैं उनके साथ श्रावक जीवन के आचारों की घड़ी भर तुलना की जायें तो इस बात पर प्रत्येक को श्रद्धा उत्पन्न हो सके वैसा है।

उत्तम विचारों का पान जन्म घुट्टी में

और यह श्रावक-जीवन यदि अपनाने योग्य लगे तो ऐसा जीवन जीने के लिये प्रोत्साहन देने वाले जो विचार हैं, उन्हें भी अपनाने ही चाहिये। आज दुष्कर समझे जाते साधु जीवन अथवा श्रावक जीवन का जो थोड़ा बहुत भी आचरण इस जगत में हो रहा है तो उसमें भी इसके पीछे स्थित उत्तमोत्तम विचारों का प्राबल्य ही परम निमित्त है। ये विचार इतने निश्चित हैं कि इसके

विचारकों को वे विचार दूसरी आत्माओं को दुष्कर लगने वाले अनुष्ठानों को भी सुकर बनाने का बल प्रदान करते हैं। जड़वाद के हजारों विद्वान आज तक लाखों पुस्तकें लिख कर जो विचार निश्चित नहीं कर सके, वैसे उत्तम और कल्याण साधक विचारों का पान श्रावक कुल में उत्पन्न हुई आत्माओं को जन्म घुट्टी में ही करने का सद्-भाग्य प्राप्त होता है।

पा भी सर्वज्ञ शासन में नन्हे बालक बालिकाएं ही जानने समझने और आचरण करते हैं।

आत्मा और परलोक आदि सबंधी अनेक प्रकार के अनुमान आज तक लगाने हुए भी अभी तक किसी निष्पक्ष जड़वादी पंडितों अथवा इतर अध्यात्मवादियों द्वारा भी नहीं हो सका, वे पदार्थ कैसे हैं उनका निश्चित बोध अनेक कुल में उत्पन्न हुए बालक बालिकाओं को बाल्यावस्था से ही प्राप्त करने का अवसर मिलता है। परलोक और विश्व कैसा है तथा उसकी व्यवस्था किस प्रकार हो रही है, इसका ज्ञान इतने इतने प्रयत्नों के परिणाम से जिन जैसा निर्णय को अभी तक नहीं हो सका है, उस परलोक और विश्व का समस्त स्वरूप और उसकी सारी व्यवस्था कैसी है तथा किस प्रकार हो रही है, इसका निश्चित बोध भी जिन वचन की श्रद्धालु आत्मा थोड़े से परिश्रम से ही कर सकती है। अस्तु, सुकरात या प्लेटो जैसे तत्त्वज्ञानी जिन तत्त्वों को अन्तिमरूप से शोध सकने में निष्फल सिद्ध हुए हैं और इनके पश्चात् के पदार्थ वेत्ता जो अनन्त की गहनता का स्पर्श कर सकने में भी अपनी असमर्थता प्रकट कर गये हैं, उन तत्त्वों का निश्चित ज्ञान भी जिन वचन से उसकी श्रद्धालु आत्मा सहज में प्राप्त कर सकती है तथा यह ज्ञान इसे इसकी आत्मा की प्रगति में अपूर्व सहायक सिद्ध होता है।

अच्छी नहीं माननी या उस पर श्रद्धा नहीं रखनी और पाश्चात्य पंडित अथवा विज्ञान वेत्ताओं द्वारा बखानी हुई बात अपूर्ण से अपूर्ण कोटि की हो तो भी उसे सम्पूर्ण की भाँति स्वीकार कर लेनी। पाश्चात्य पंडितों की दृष्टि से वस्तुओं की उत्तमता अथवा अधमता को आँकने की अपनी यह बौद्धिक पराधीनता मिटनी ही चाहिये। यह यदि नहीं मिटती तो तनिक भी आत्मिक उद्धार की बात असम्भव है क्योंकी पाश्चात्य पंडित आधिभौतिक विषयों में चाहे जितने आगे बढ़ गये हों, तो भी आध्यात्मिक विषयों में तो वे वर्ष के नौसिखियों की अपेक्षा भी वे निम्न कोटि के हैं।

श्रद्धा

कुछ लोगों में आज एक इस प्रकार की मान्यता फैल गई है कि 'अक्षर ज्ञान का न धारण करने वाली आत्माएँ चाहे जितनी धर्म क्रियाएँ करें तो भी उनका वह अज्ञान कष्ट है, है परन्तु यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। चाहे जितना अक्षर ज्ञान धारण किया जाय यावत् चौदह पूर्व पर्यंत का श्रुत ज्ञान स्वाधीन कर लिया जाय तो भी उस ज्ञान का योग केवलज्ञान के मात्र अनन्तवें भाग जितना ही है। यह सारा ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान का अनन्तवाँ भाग ही है अतः उस मत से तो चतुर्दश पूर्वधरों की क्रिया को भी कष्ट क्रिया ही माननी पड़ेगी। 'भले सम्पूर्ण ज्ञान न हो परन्तु थोड़ा ज्ञान तो होना चाहिये न? तो यह बात उचित है, परन्तु धर्माचरण करने वाले अज्ञानी में अज्ञानी भी थोड़ा ज्ञान अवश्य रखता है। यदि ऐसा भी न हो, तो परलोक के नाम पर कष्ट कैसे झेला जा सके? अतः यह कष्ट अज्ञान कष्ट है, ऐसा कह कर इसकी उपेक्षा नहीं हो सकती।

अज्ञान का अर्थ विशिष्ट श्रुतज्ञान का अभाव किया जाय तो तो ठीक है परन्तु अज्ञान का अर्थ सर्वथा ज्ञान रहितता किया जाये तो वह सत्य नहीं क्योंकि अक्षर

ज्ञान को प्राप्त न की हुई आत्मायें भी मति श्रुतज्ञान को धारण करने वाली होती हैं तथा उसमें भी अनन्त ज्ञानियों के कथन के प्रति श्रद्धालु आत्मा का तनिक भी मति श्रुत-ज्ञान आत्मिक मार्ग में बहुत ही कार्यसाधक होता है। वैसे अल्पाल्प मति-श्रुतज्ञान की भी ज्ञानियों ने यदि वह श्रद्धा युक्त हो तो प्रशंसा की है। अनन्त ज्ञानियों और उनके कथनों के प्रति अन्तरंग श्रद्धा यही अल्प ज्ञानी आत्माओं की बड़े में बड़ी निधि है। महामहोपाध्याय श्री यशोविज-यजी महाराज श्री वीतराग की स्तवना करते हुए एक स्थल पर कहते हैं—

इतने दिन तू नाहीं पोछान्यो,
मेरो जन्म गमायो अजान में,
अब तो अधिकारी हूई बेठे,
प्रभु गुन अनुभव रसपान में,
इम अमल भये प्रभु ध्यान में ।

सकता है। यह लाभ उसके लिए उसी पिता जितना ज्ञानी बनने की आवश्यकता नहीं करती कि पुत्र पिता पर पिता के अनुरूप श्रद्धा ही साधना होता है। इस श्रद्धा से ही पिता के अनुभव का लाभ पुत्र अपने लिए प्राप्त कर सकता है। श्रद्धा के बल पर पिता का आज्ञानुसार आचरण करने से अनेक प्रकार की हानियों से वह बच सकता है तथा अनेक प्रकार के लाभों को वह प्राप्त कर सकता है। इसी दृष्टि से अनंत ज्ञानियों के प्रति माता और पिता की भी अपेक्षा अधिक श्रद्धालु बना हुआ आत्मायें अनन्त ज्ञानियों के समस्त ज्ञान का उपयोग कर सकता है।

इस ज्ञान के उपर की श्रद्धा के बल से, इनकी आज्ञानुसार वर्तन करने से संसार में अवश्यभावी आपत्तियों से श्रद्धालु जीव उबर जाता है और नित्य नयी नयी सम्पत्ति तथा सद्गति को प्राप्त करता है। यह श्रद्धा का प्रताप है। अपने ज्ञान का नहीं। अनन्त ज्ञानियों के उपर श्रद्धा ही अल्पज्ञ आत्माओं के लिये ज्ञान गुण अथवा किसी अन्य गुण की प्राप्ति का सच्चा उपाय है। यह श्रद्धा अल्प ज्ञानी और अल्प गुणी आत्मा को भी सम्पूर्ण ज्ञान और समस्त गुणों की अधिकारी बनाने वाली होती है।

श्रद्धा के इस मूल्य को समझ सकने वाले कभी भी ऐसा नहीं कह सकते कि, 'अक्षर ज्ञान विहीन श्रद्धालु आत्माओं

की धर्म क्रियायें निरर्थक हैं अथवा किसी गुण को प्राप्त
कराने वाली नहीं।' श्रद्धालु आत्माओं की श्रद्धा गुण प्राप्ति
में परम सहायक है। इससे ज्ञान की आवश्यकता नहीं
यह नहीं परन्तु सच्ची श्रद्धा के पश्चात ज्ञान अवश्य होता
है। मात्र इस श्रद्धा की उत्पत्ति के लिये जो ज्ञान चाहिये,
वही श्रद्धा से पहले आवश्यक है और श्रद्धा हो उतना
ज्ञान तो सभी धर्म क्रियाओं का आचरण करने वालों में
अवश्य होता है।

एसा उपचार से कहा जा सकता है क्योंकि आज स्त्री आज नहीं परन्तु मनुष्यों के संकड़ों प्रयत्न से भी शील से च्युत नहीं हुई थीं जो स्त्रियाँ आज भी विद्यमान हैं और जिन्हें अपार ज्ञान नहीं इसीलिये उनका पाला हुआ शील क्या व्यर्थ और खोटा है? नहीं पतिव्रता स्त्रियों के इस शील को व्यर्थ या खोटा किसी से नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनमें इतना ज्ञान तो अवश्य रहा है कि 'इस शील को मैं न पालूं तो भवोभव वैधव्य मिले। एक भव के भी शील खण्डन से अनेक भव बिगड़ते हैं। पूर्व जन्मों में किये हुए शील भंग के दोष से ही इस भव में वैधव्य आता है तथा इस भव में भी इस पापी शरीर से क्षणिक सुख के लालच से शील को भंग करूं तो जन्म जन्मान्तर में मेरा होगा क्या? यह क्या कम ज्ञान है? यह क्या कम विवेक है?

शिक्षण और सद्गुण

इस प्रकार निरक्षर गिने जाते मनुष्यों में भी पाप का डर भव से भीरुता, आत्महित की चिन्ता, दुर्गति गमन का भय, गुण का आदर, परमात्मतत्त्व के प्रति प्रेम इत्यादि वृत्तियाँ रहती हैं। ये वृत्तियाँ न हों तो जो दया, दान, शील, तप, भक्ति आदि अमूल्य प्रवृत्तियाँ

प्रचलित हैं वे किस प्रकार सम्भव हैं ? इन प्रवृत्तियों को अज्ञान कह कर निंदित करना पढ़े हुए या समझदारों के लिये उचित नहीं। आगे बढ़ कर कहें तो जो समझ या पढ़ाई पाप या दुर्गति का भय उत्पन्न नहीं करती, आत्मा या परलोक की चिन्ता नहीं होने देती, गुणों के प्रति राग या दुर्गुणों के प्रति द्वेष नहीं उत्पन्न करती वह समझ वह पढ़ाई अवश्य या स्वार्थी आत्माओं द्वारा चाहे जितनी प्रशंसा प्राप्त करती हो तो भी वास्तविक समझ या वास्तविक पढ़ाई कहे जाने योग्य नहीं उल्टा सामने वाले पक्ष में [illegible] ज्ञान या उस प्रकार किसी भी विशेषता के बिना आत्मा को प्राप्त हुई पाप भीरुता आदि सद्गुण जहां होंगे वहां पढ़ाई का फल विद्यमान ही है क्योंकि यही [illegible] का सच्चा फल है।

अनावश्यक है। यह शिक्षण तो अतिशय आवश्यक है किन्तु इससे विपरीत परिणाम उत्पादक शिक्षण प्रशंसनीय नहीं। सद्गुणों की वृद्धि में शिक्षण सहायक है इसका अर्थ यह नहीं होता कि शिक्षण मात्र सहायक है। यहाँ भी सुशिक्षण और कुशिक्षण का विवेक विद्यमान है ही जिससे कुशिक्षण का त्याग और सुशिक्षण का स्वीकार यही कर्तव्य है।

पापभीरुता आदि गुणों और आत्महित आदि की चिन्ता में से उत्पन्न हुई मतिव्यामोह अज्ञान में से न होने पर भी अन्य प्रकार के सम्यग्ज्ञान में से ही जन्मी हुई हैं, जिससे उपादेय हैं। और पापभीरुता आदि सद्गुणों के प्रति द्वेष या उपेक्षा अन्य ज्ञान में से जन्मी हुई हो तो भी वह त्याज्य ठहरती है। उसमें भी जब इस प्रकार का अज्ञानज्ञान स्वाभाविक सद्गुणों में से उत्पन्न हुए उत्तम आचरणों को महत्त्वहीन करने के काम में प्रयुक्त हो तो वह अतिशय वर्ज्य होता है।

संसार की असारतारूपी उत्तम विचार

जैन जगत में प्रचलित आत्मोन्नति साधक उत्तमोत्तम विचारों में से सर्व प्रथम और मुख्य विचार यह है कि 'यह चतुर्गति रूप संसार असार है।' इस विचार की जड़ें इतनी

महत्ता प्रमाणित है कि जैन जगत के प्रत्येक उपदेश, निर्देश
धनता क्रियाकर्म में उसे मुख्य स्थान प्राप्त रहता है तथा
जैन जगत का सर्वस्व उसी से चुना हुआ होता है ऐसा
अनुभव हुए बिना नहीं रहता। श्री जिन की पूजा करते
हुए, श्री जिन की प्रार्थना करते हुए तथा श्री जिन का
वचन सुनते हुए उसमें से संसार की एक निःसारता ही
निष्पन्न होती है। गुरु के उपदेश, आदेश अथवा आचार
में से भी संसार की एक निर्गुणता ही ध्वनित होती है।
साहित्य के सौन्दर्य स्वाध्यायादि में भी उसी की एक छाया

गति में जन्म जरा मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग क्षुधा, पिपासा, रोग, शोक आदि भयकर उपद्रव मुँह फाडे जगत को ग्रसित करने के लिये बैठ रहते हैं। उनके ग्रास से कोई भी बच नहीं सकता। राजा से रंक तथा इन्द्र से कीट तक सब को उस सब का शरण में दीन बन कर झुकना ही पड़ता है।

मानस शास्त्र के अभ्यासी आज मानसिक प्रयोगों द्वारा मनुष्य जाति के सुख, शांति और उन्नति साधन के प्रयास कर रहे हैं, परंतु सर्वत्र पर जैन किसी भी प्रकार के आडम्बर के बिना भी जैन शासन मनुष्य जाति की उन्नति हेतु जैसे कितने ही उत्तम विचारों और आचारों को इस जगत में फैलाने का कार्य अनादि वर्षों से अविरत रूप से कर रहा है, उसे जान कर किसी भी सुहृदय आत्मा का हृदय पुलकित हुए बिना नहीं रहेगा।

उत्तम विचारों का दर्शन वाले वाक्य

जैन शासन कहता है और जैन जगत श्रद्धा पूर्वक स्वीकार करता है कि–

(१) यह जीव अशुचि और भीषण गर्भावास में शुभाशुभ कर्म के प्रभाव से अनन्त बार रह चुका है।

(२) जीव की उत्पत्ति के स्थान चौरासी लाख है। उन चौरासी लाख योनियों में से एक एक योनि में एक एक जीव अनन्त बार उत्पन्न हुआ है।

(३) बहुत सी योनियों में निवास करते हुए माता, पिता और स्वजनों द्वारा यह लोक भरा हुआ है परन्तु वे किसी जीव को त्राण या शरण रूप नहीं हो सकते।

(४) माता स्त्री बनती है और स्त्री माता होती है। इसी प्रकार पिता पुत्र होता है और पुत्र पिता होता है। कर्मवश आत्माओं के उत्पन्न होने के लिये इस संसार में किसी भी प्रकार का नियम नहीं।

करता है तथा उसके परिणामवश, वध, बन्धन, ताडन, तर्जन, रोग, जरा, मृत्यु आदि भी जन्म जन्मान्तर मे अकेला ही सहन करता है। अपने कर्म द्वारा जीव स्वय ही ठगा जाता है।

(९) आत्मा का हित अथवा अहित अन्य कोई नहीं करता। स्वय ही स्वय के कर्मों से उत्पन्न सुख दुःख भोगता है।

(१०) अधिक आरभ से उपार्जित किए हुए धन इत्यादि का उपभोग स्वजन वर्ग करता है, परन्तु तज्जनित पाप कर्म का उपभोग तो उसे स्वय ही करना पडता है।

(११) इस ससार में जतु दुःखों से पिसे जाते हैं। प्राणियों को प्रथम जन्म का दुःख है, फिर जरा अर्थात् वृद्धावस्था का दुःख है, बीच मे रोगों का दुःख है और अन्त मे मृत्यु का दुःख असह्य है।

(१२) जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती, जब तक जरा राक्षसी आकर खडी नहीं होती, जहाँ तक रोगों के विकारों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, जहाँ तक मृत्यु निकट नहीं आ पहुँचा, तब तक यथासम्भव आत्महित साध लेना चाहिये।

(१३) आग लगे तब कुआ खोदना और आग बुझाना यह जैसे असमर्थ है, वैसे मरण प्राप्त होने पर धर्म

साधन करना और दुर्गति से बचना भी असम्भव है।

(१४) शरीर का रूप अशाश्वत है, शरीर का सौन्दर्य बिजली की कौंध जैसा चंचल है और शरीर का तारुण्य सन्ध्या के रंग के समान क्षण-रमणीय है।

(१५) लक्ष्मी हाथी के कान के समान अस्थिर है तथा विषय सुख इन्द्रधनुष की भांति क्षण-विनाशी है अतः इनका विश्वास अनुचित है।

(१६) संध्या काल में पक्षियों का तथा मार्ग में सहयात्रियों का समागम जिस प्रकार थोड़े समय के लिये है वैसे ही स्वजनों का संग भी क्षण भंगुर है।

सामर्थ्य हो अथवा जो जानता हो कि मुझे मरना है ही नहीं, वही पुरुष यह कह सकता है कि मैं धर्म करूंगा।

(१६) जिस प्रकार सिंह हिरण के बच्चे को गर्दन से पकड़ कर नाश करता है, उसी प्रकार अन्तराल में मृत्यु पुरुष की गर्दन पकड़ कर अवश्य उसका नाश करती है। उस समय उस पुरुष का उसके माता पिता अथवा भ्राता रक्षण करने में जरा भी समर्थ नहीं होते।

(२०) जीवन दूर्वा के अग्र भाग पर स्थित जल बिन्दु के समान चपल है। सम्पत्ति समुद्र की तरंग की भांति चपल है तथा स्त्री आदि का स्नेह स्वप्न की भांति मिथ्या है। इस प्रकार उन उन पदार्थों की अस्थिरता जानकर धर्म का आचरण करना, यही सार है।

(२१) सन्ध्या के रंग पानी के बलबुले और नदी के वेग के समान यौवन और जीवन को अस्थिर तथा विनश्वर जानते हुए भी पापी जीव प्रतिबोध प्राप्त नहीं करता।

(२२) निगोद में यह जीव अनन्त सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्तन काल तक तीक्ष्ण दुःखों को सहन करता रहा है।

(२३) निगोद से निकल कर मनुष्य भव प्राप्त करना जीव के लिये

मणि रत्न की प्राप्ति की भाँति श्री जिन कथित धर्म को प्राप्त करना वह उससे भी महादुष्कर है।

(२४) जिनकथित धर्म की प्राप्ति के पश्चात् भी प्रमाद आत्मा को बहुत सताता है और पुनः भवरूपी अंधकूप में फेंक देता है।

(२५) श्री जिनधर्म को प्राप्त करके भी जो आत्मा मात्र प्रमाद के दोष से उसका आचरण नहीं करती वह आत्मा स्वयं की ही हिंसा है और परलोक में अनन्त दुःख प्राप्त करती है।

भी हुआ है, कीट भी हुआ है, पतंग भी हुआ है तथा मनुष्य भी हुआ है। मनुष्य में भी गुरुप और कुरूप भी हुआ है, गुरुभागी हुआ है और दुरभागी भी हुआ है, राजा हुआ है और रंक भी हुआ है, ब्राह्मण हुआ है और चांडाल भी हुआ है, स्वामी हुआ है और दास भी हुआ है, पूज्य हुआ है और अपूज्य भी हुआ है, सज्जन हुआ है और दुर्जन भी हुआ है धनपति हुआ है और निर्धन भी हुआ है। अपने कर्म के अनुसार चेष्टा करते हुए यह जीव नट की भाँति भिन्न भिन्न रूप और वेश धारण करते हुए बार बार भटका है।

(३०) अशाता से व्याप्त रत्नप्रभादि सातों नरकों में इस जीव ने अनन्तबार अनेक प्रकार की वेदनायें प्राप्त की है।

(३१) देवत्व और मनुष्यत्व में पराधीनता प्राप्त इस आत्मा ने अनन्त बार वह प्रकार के भीषण दुःख अनुभव किये हैं।

(३२) तिर्यंच गति प्राप्त कर इस आत्मा ने अनन्त बार जन्म मरणरूपी अरहट में भ्रमण किया है और अनेक प्रकार की भीषण महावेदनायें सही हैं। इस संसार रूपी भवन में शरीर और मन संबंधी जितने दुःख हैं उन्हें इस जीव ने अनन्त बार सहे हैं।

(३३) संसार में अनन्त बार नरकादि गतियों में इस जीव को इतनी तृषा सहन करनी पडी है कि उसे शमित करने के लिये सर्व उदधियों का जल भी समर्थ नहीं हो सकता । उसी प्रकार क्षुधा भी अनन्त बार इतनी सहन की है कि उस क्षुधा के शमन के लिये सर्व पुद्गल स्कंध भी असमर्थ सिद्ध होंगे ।

(३४) इस प्रकार अनेकों जन्म मरण के परावर्तन करने के बाद भी जीव को अपनी इच्छानुसार कुशलता से चलने वाला मनुष्यत्व प्राप्त हो सकता है ।

(३८) मृत्यु में पिता, पुत्र, मित्र, पत्नी तथा गृहिणी सभी अपने आपको गुप्त करने के स्वभाव वाले हैं। उसके लिये किये गए पापों का परिणाम नरक और नरकादि गति में अनन्त दुःखों को सहन करके स्वयं को ही भोगना पड़ता है। उस समय उनमें से कोई शरण देने वाला नहीं होता।

(३९) बाज पक्षी जिस प्रकार लावर पक्षी को मारता है, उसी प्रकार आयुष्य का क्षय होने पर यमराज बालक हो या वृद्ध सब जिसारों एक पल में झड़प लेता है।

(४०) तीनों लोक यमराज के वश होते देखने पर भी जिन आत्माओं को धर्म की प्रेरणा नहीं मिलती, उन आत्माओं को धिक्कार है।

(४१) चिकने कर्मों से ग्रसित आत्मा के लिये हितोपदेश भी महादोष कारक या द्वेष उत्पादक होता है।

(४२) अनन्त दुःख के कारण भूत धन स्वजनादि पदार्थों और उसके साधनों के प्रति आत्मा को ममता होती है, तथा अनन्त सुख को देने वाले मोक्ष अथवा उसके साधनों के प्रति वैसा आदर नहीं होता, यह जीवन की बहु लक्षमिता को सूचित करता है।

(४३) तुच्छ वस्तुओं के प्रति स्नेह रूपी बन्धन की बेड़ी से बँधी हुई आत्मा, दुःख स्वरूप, दुःख के फल वाले और दुःख की ही परम्परा देने वाले संसार को छोड़ नहीं सकती।

(४४) संसार रूपी घोर कानन में स्वयं उपार्जित किए हुए कर्म रूपी पवन से थपेड़े खाता हुआ जीव विविध प्रकार के दुःसह दुःखों और घोर विडम्बनाओं को सहता है। संसार रूपी वन में यह जीव प्रत्येक स्थान पर जल और स्थलों के समूह का त्याग कर आकाश मार्ग में पक्षी की भाँति अदृश्य रूप वाला हो कर बार बार भटकता है।

म दर्शन जैसा कुछ भी अन्त पार प्राप्त करती है, अतः मनुष्य भव और भी जिन धर्म को प्राप्त कर एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं।

(४७) अस्थिर मलिन और पराधीन इस शरीर द्वारा स्थिर, निर्मल और स्वाधीन सा धर्म साधा जा सकता हो तो अन्य कार्यों में पड़ने से क्या लाभ ?

(४८) मिथ्यात्व में प्रकट अनन्त दोष दिखाई देते हैं परन्तु गुण तो उसमें लेश मात्र भी नहीं तथापि मोह वश अंधी बनी हुई आत्मायें उस मिथ्यात्व का ही सेवन करती हैं। सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष अनन्त गुण दिखाई देते हैं तथा दोष का लेश भी दिखाई नहीं देता तो भी अज्ञान से अंधे बने हुए जीव भी जिनेंद्र भाषित सम्यक्त्व मूल धर्म का सेवन कभी भी नहीं करते।

(४९) विज्ञान और कला में कुशल आत्माएं भी सुखकारक और सत्य धर्म की परीक्षा करने के लिये अपनी निपुणता और कला को यदि उपयोग नहीं करता हो तो ऐसे विज्ञान और कलाओं की कुशलता लेश मात्र भी प्रशंसनीय नहीं।

(५०) जीवों के लिये जिन धर्म अपूर्व कल्पवृक्ष है, क्योंकि इसके आराधन से इस लोक में शान्ति और परलोक

में स्वर्ग तथा अपवर्ग के सुख रूपी स्वादु फलों की प्राप्ति होती है।

(५१) श्री जिनकथित धर्म सुबंधु हैं, सुमित्र है और परम गुरु है। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त आत्मा के लिये श्री जिन धर्म का आलंबन उत्तम रथ का काम करता है।

(५२) महा भयंकर भी इस चार गति में व्याप्त [illegible] रूपी अग्नि से सुलग रहे इस संसार रूपी कानन में श्री जिनवचन का सेवन ही अमृत कुंड की समान शांति देने वाला है।

(४) इस और अनन्त व अविनाशी सुख पाने की दृष्टि से दुःख हरण और दुःख के कारण विषय सेवा का त्याग करती हैं और शाश्वत सुख के साधन रूपी श्री जिनाज्ञा का आराधन करती है। यह श्री जिनाज्ञा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की आराधना स्वरूप है।

इस प्रकार के दूसरे भी अनेक उत्तम और प्रेरक विचारों का स्फुरण वाले वाक्य यहाँ अवतरित किये जा सकते हैं जिनकी छाया सच्चारी जैन कुलों के घरों की दीवारों पर भी छायी हुई होती है।

जैन कुल में जन्मी हुई आत्माओं को जिनमत में ही ये विचार मिले हुए होने से उनका बार बार श्रवण प्राप्त हुआ करता है और इसके प्रताप से पुस्तकों आदि का अभ्यास न कर सकने वाली भी पुण्यवान आत्माओं को उस पर मनन करने का अवसर प्राप्त होता है। ऐसे अवसर बार बार प्राप्त होने से उन विचारों की सत्यता की छुपी छुपी भी प्रतीति होती जाती है और इस प्रतीति के बल पर ही अक्षर ज्ञानिओं की अपेक्षा नि
क्षर गि

समझकर घोर तपश्चरण तथा नियमित धर्म क्रियाओं का आचरण कर सकती हैं । इनके इस आचरण के पीछे श्रद्धा का बल है और इस श्रद्धा के पीछे बार बार सुने और विचारे जाने सुन्दर और सत्य विचारों रूपी सम्यक्-ज्ञान का बल छिपा हुआ है ।

जिनधर्मविनिर्मुक्तो-
मा भूवं चक्रवर्त्यपि ।
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि
जिनधर्माधिवासितः ॥

श्री जिन धर्म रहित चक्रवर्ती पद को भी मैं नहीं चाहता परन्तु श्री जिन धर्म से सहित मैं दास व दरिद्र बनूं तो भी [illegible]

श्रावक धर्म

भगवान श्री जिनेश्वर देवों ने दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया है, एक साधु धर्म और दूसरा श्रावक धर्म। साधु धर्म पांच महाव्रतादि के पालन स्वरूप और श्रावक धर्म पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतादि के पालन स्वरूप है।

जिससे निःश्रेयस कल्याण की सिद्धि हो, वह धर्म है। सम्यक्त्वादि आत्म परिणाम ही कल्याण का कारण है उसकी कारणभूत बाह्य चेष्टायें भी कारण में कार्य के उपचार से धर्म व्यपदेश के लिये उचित है।

परलोक हितरागी श्री जिन वचन को जो सम्यक् रूप से और उपयोग पूर्वक सुने वह श्रावक कहा जाता है।

वह श्रवण अति तीव्र कर्म के विगम से होता है

(१) जिन वचन अर्थात् आप्त आगम।

(२) परलोक अर्थात् जन्म जन्मान्तर अथवा दूसरा श्रेष्ठ जन्म।

श्री जिन वचन के आराधन से ही परलोक अनुकूल होता है। जिन वचन दो प्रकार का होता है।

(१) निमित्त शास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि जो मुख्य रूप से इस लोक के लिये हितकारी हैं तथा गौण रूप से परलोक का भी हित करते हैं।

(२) जो साधु-साध्वियों के अनुष्ठान गर्भित है वह मुख्यतः परलोक का हित करने वाला है।

नाश। इस नाश के बिना ऊपर बताई गई विधि से श्रवण करना संभव नहीं।

ऊपर कहे हुए विशेषण वाला उत्कृष्ट श्रावक गिना जाता है। श्रावक शब्द मुख्यतः उसी पर लागू होता है और उसे शुद्धतः पाक्षिक भी कहा जाता है। जिसका संसार परिभ्रमण काल अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से कम होता है, वह शुक्ल पाक्षिक कहा जाता है। उसके अतिरिक्त के श्रावक नाम श्रावक, स्थापना श्रावक अथवा द्रव्य श्रावक गिने जाते हैं।

सम्यग्दर्शन

श्रावक धर्म का मूल सम्यक्त्व है जिससे सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों को श्रावक धर्म कहा जाता है।

सम्यक्त्व को धर्म वृक्ष का मूल, धर्म पुर का द्वार धर्म प्रासाद का आधार धर्मामृत का भाजन तथा धर्म गुणों के निधान के रूप में शास्त्रों में वर्णित किया गया है। तत्वार्थ श्रद्धा स्वरूप शुद्धात्म अध्यवसाय ही समकित है।

आत्म अध्यवसाय परोक्ष ज्ञानी जैसे छद्मस्थ प्राणियों के लिये अगोचर है। परोक्षज्ञानी छद्मस्थ आत्माओं द्वारा तो इसे उचित प्रवृत्ति के स्वीकार तथा

अनुचित प्रवृत्ति के त्याग से ही पहचाना जा सकता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति भी यद्यपि कर्मग्रंथि का भेद होने से होती है तथापि मिथ्यात्व त्यागादि क्रियायें ही कर्मग्रन्थि के भेद में कारण भूत होती हैं, जिससे कारण में कार्य का उपचार करके व्यवहार में मिथ्यात्व के त्याग को ही सम्यक्त्व माना गया है। इस कारण श्रावक धर्म की इच्छा रखता यावज्जीव के लिये मन वचन काया से करना, कराना तथा अनुमोदन करना, इन सब प्रकार से हिंसा का त्याग करे।

लौकिक देवों का पाया द्वारा यजन करना, उनकी पुष्पादि द्वारा पूजा करना वस्त्रादि द्वारा उनका सत्कार करना और स्तोत्रादि द्वारा उनका सम्मान करना इत्यादि जिस प्रकार मिथ्यात्व है वैसे ही ऋषभादि लोकोत्तर देवों के प्रति भी रागादृष्टि की कल्पना करके लौकिक फल की कामना से उनका वंदन पूजन सत्कार सम्मानादि करना भी मिथ्यात्व है । इस मिथ्यात्व का भी श्रावक को जीवन पर्यंत त्याग करना चाहिये ।

लौकिक तथा लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व की भाँति लौकिक और लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व का भी त्याग करना चाहिये । श्री जैन धर्म से बहिर्भूत तापसादि अन्य लौकिक गुरुओं के साथ समालाप, परिचय, आज्ञा पालन आदि प्रवृत्तियों को छोड देना चाहिये इतना ही नहीं किन्तु रजोहरणादि लोकोत्तर लिंग को धारण करने वाले पार्श्वस्थादि साधुओं का भी वंदन, पूजन, सत्कार, सम्मान आदि नहि करना चाहिये ।

इसके लिये आगम में कहा है कि -

"पासत्थ, ओसन्न, कुशील संसक्त एवं यथाच्छंद ये पाँच प्रकार के साधु भी जिनमत में अवंदनीय हैं ।

पार्श्वस्थ वह है कि जो ज्ञान दर्शन चारित्र के

पाप करे किन्तु उसकी आराधना नहीं करे। इतना ही नहीं किन्तु अकारण क्षेत्रान्तर पिंड, अभ्याहृत पिंड, (सामने लाया हुआ) राजपिंड और अग्रपिंडादि का उपयोग करे। अकारण कुलों में विहार करे तथा संसक्त (जिसमें अन्य पदार्थ मिला) इत्यादि दोषों का पोषण करे।

हुए वस्त्र पात्र आदि रखे हिंसादि पाँच आस्रव में प्रवृत्त रहे, रसादि तीन गारव में गृद्ध रहे, स्त्रियों और गृहस्थों का संग कर अथवा जब पासत्थादि से मिले तब पासत्थादि जैसा बने और संविग्न के संग में संविग्न जैसा बने।

यथाछन्द वह है जो आगम विरुद्ध आचरण और आगम विरुद्ध प्ररूपणा इन दोनों को करता है। आगम में कहे हुए से विपरीत वर्तन करना और विपरीत बोलना, यह इसका लक्षण है। स्वच्छन्द मति से वर्तन करना, गृहस्थों के कार्यों की चिन्ता करना, इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये बार बार गोचरी जाना, सुख स्वास्थ्य (शाता) और विकृति (घी दूध आदि) में आसक्त रहना, गृह निर्माण कराना कुए खुदवाना, वाटिकाएं बनवाना अथवा उसमें भाग लेना, श्रावकों पर कर लगाना, चैत्य का व्यवहार करना इत्यादि सूत्रोक्तोत्तीर्ण का स्वयं आचरण करना तथा अन्य के पास आचरण करवाना अथवा आचरण करने हेतु प्ररूपणा करना यही यति वेशधारी यथाछन्दियों की निन्दित की प्रवृत्ति है। ऐसे यथाछन्दियों के संसर्ग से मिथ्यात्व की प्राप्ति संभव है। अचानक संसर्ग हो जाय तो भी सामर्थ्यवान् ज्ञान [illegible] श्रावक को [illegible] सूत्र विरुद्ध

पलाओं का संटन करना चाहिये । शक्ति के अभाव में दोनों कानों में अंगुलियाँ डाल देनी पर उनका श्रवण नहीं करना । वैगो का वचन सुनने से श्रुत के जानकार साधु को भी मिथ्यात्व की प्राप्ति का संभव है, तो फिर औपपातिक दि तन्त्रों से अनजान और श्रुतज्ञान से रहित श्रावक के लिये तो कहना ही क्या ? उस प्रकार के आगम के सम्बन्ध से रहित श्रावक उत्तर देने में असमर्थ है अतः उसे सन्मार्ग से च्युत होने देर नहीं लगती ।

है कि 'अनेक प्रकार की क्रियाओं को कर, स्वजन धन और भोगों का त्याग करे तथा दुःख को छाती पर धारण कर, तो भी अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार शत्रु की सेना को नहीं जीत सकता उसी प्रकार अनेक प्रकार का विरति कर, स्वजन, धन और भोगों का त्याग कर तथा परिषह और उपसर्गों के तीव्र कष्ट सहन कर, तो भी अंध के समान मिथ्यादृष्टि आत्मा की सिद्धि नहीं होती। इसलिए कर्म शत्रु की सेना को जीतने की इच्छा वाले को सम्यग्दर्शन के लिए उद्यम करना चाहिये। ज्ञान, तप अथवा चारित्र सम्यग्दर्शनवान आत्मा के ही सफल हैं दूसरों के निष्फल' यह दर्शनाचार आठ प्रकार का है।

गुणों प्रधान चार आचार

१ निःशंकित–जीवादि तत्त्वों के विषय में निःशंक।

२ निष्कांक्षित–अन्य तार्थिक मतों की अनाकांक्षा।

३ निर्विचिकित्स–अनुष्ठान के फल में निश्चय वाला।

४ अमूढ दृष्टि–कुतीर्थिकों के विद्या मंत्र चमत्कार आदि देखने पर भी अमोहित मतिवाला।

५ उपबृंहण–गुणवान की स्तुति, प्रशंसादि।

६ स्थिरीकरण–धर्म में अस्थिर को स्थिर करना

७. वात्सल्य साधर्मिकों की आहारादि द्वारा भक्ति करना और वत्सलता दिखानी ।

८. प्रभावना–श्री जिन शासन के प्रभाव को प्रकट करना तथा उसका प्रचार करना ।

सर्व विषयक और देश विषयक शंका

भगवान श्री अरिहंत प्रणीत धर्माधर्मकाश आदि [illegible] पदार्थों के विषय में मति मंदतादि अने[illegible] कारणों से सर्व से या देश से संशय होना शंका है ।

भगवान श्री गणधर देवों ने बाल बुद्ध आदि सबके उप-
कार के लिये उपकार हो सके इस कारण से सूत्रों
की अर्ध मागधी नाम की प्राकृत भाषा में रचे हैं। पुन
यह भाषा अट्ठारस और महा अर्थ आदि अनेक गुण
प्रकट होने से दूसरी सब भाषाओं से विशिष्ट है। जिस
प्रकार वह भाषा थोड़े अक्षरों और महा अर्थ से युक्त है
वैसे उस भाषा में रचित आगम सूत्र भी बत्तीस दोषों से
रहित, आठ गुणों से युक्त और शब्द शास्त्र के नियमों
से अलंकृत हैं। तद्उपरान्त, उन आगमों में कथित कथन
घस, छेद और ताप की परीक्षा में से शुद्ध हुए कथन की
भाँति शुद्ध है। समस्त रत्न जैसे रत्नाकर की उत्पत्ति है
वैसे समस्त सुभाषित, श्री जिनागम की ही उत्पत्ति है।

श्री जिनागम की अद्भुतता का वर्णन करते हुए
एक स्थान पर कहा गया है कि—

सुणिउणमणाइनिहणं भूयहिअं भूयभावणमणग्घं।
अमिअमजिअं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं ॥ १ ॥

श्री जिनागम (सूक्ष्म द्रव्यादि को बताने वाला होने
से) सुनिपुण है, (द्रव्यार्थ नय से) अनादि निधन है
(किसी के लिये पीड़ा कारक नहीं होने से) भूतहित है।
सत्य को कहने वाला होने से सद्भूत भावना है, (अति-
शयमान मूल्य वाला होने से) अनर्घ्य है, (अनन्त अर्थ-

वाला होने से) अमित है और (शेष प्रवचन से) अजित है। उसी प्रकार नय गर्भित (महा अर्थवाला), लब्धि-सिद्धि आदि (महाप्रभाव वाला) और सकल द्रव्यादि को विषय बनाने वाला (महाविषयवाला) है।

देश विषयक शंका श्री जिनागम के अमुक अमुक विषय में शंका होना देश विषयक शंका है यथा जीवत्व समान होने पर भी एक भव्य और एक अभव्य क्यों? [illegible] एक आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु आदि किस प्रकार रह सकते हैं? जैसे कि वस्तु के स्वभाव में प्रश्न [illegible] है और आकाश क्यों [illegible] ऐसा प्रश्न कोई नहीं करता फिर भी [illegible] के उत्तर में श्री जिन वचन में सन्देह उत्पन्न [illegible] प्रकार के प्रश्न रूप में उठते हैं। उनका [illegible] में उस उस विषय की शंका को [illegible] दर्शनान्तर की वासना से [illegible] जिनमत वैसी शंकाओं के [illegible] इस प्रकार के सूत्र [illegible] [illegible] के प्रकाश से [illegible]

कांक्षा के दो प्रकार

कांक्षा दो प्रकार की है । 'सांख्यादि सर्व दर्शन मोक्ष के कारण हैं' ऐसा मान कर उन सबकी अभिलाषा करना, सर्वकांक्षा है और उनमें से एकाध दर्शन की अभिलाषा करना देशकांक्षा है ।

'सर्व दर्शनों में अहिंसा, सुकृत दुष्कृत का फल तथा स्वर्ग मोक्षादि का वर्णन समान है, जिससे सर्व दर्शन मोक्ष के अंग हैं' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है परन्तु नय दुर्नय के स्वरूप को समझने से यह कांक्षा नष्ट होती है । दूसरे दर्शन एक एक नय की मान्यता को आगे रख कर उत्पन्न हुए हैं और अपने से भिन्न मान्यताओं का तिरस्कार कर रहे हैं, जिससे असत्य हैं, जब कि श्री जिन शासन सब नयों को अपने में समा लेता है अतः उसका निरूपण सर्वांश सत्य है ।

विचिकित्सा के दो प्रकार

विचिकित्सा भी दो प्रकार की है । विचिकित्सा अर्थात् धर्म के फल का सन्देह । देश विषयक विचिकित्सा यम नियम चैत्य वंदनादि किसी भी एक अनुष्ठान के फल का सन्देह उत्पन्न करती है जब कि सर्व विषयक विचिकित्सा चैत्यवंदनादि सभी अनुष्ठानों के फल में संदेह

उत्पन्न करते हैं, अथवा पूर्व पुरुष आगमनिर्दिष्ट मार्ग का
यथोक्त रूप से पालन करने वाले थे, जिससे उनको
आगम में कहे हुए स्वर्गापवर्ग आदि फल की प्राप्ति संभव
है, किन्तु इस प्रकार की भूलि और संशय आदि से रहित
निर्मल कर्मों को भी व्यापारों का यथोक्त फल

पातञ्जलि के अनुसार यदि यह पूर्व संचित संयमानुष्ठान का भावाभाव करने वाले साधु पुरुषों की निन्दा करने वाले पापात्मा अनर्थ को प्राप्त करते हैं तथा श्री जिन शासन में कहा है। काल, संहनन और धृति आदि के अनुरूप धर्म के विषय में पराक्रम करने वाली आत्मा को उसका शास्त्रोक्त फल अवश्य मिलता है, ऐसा समझ कर सदैव निर्विचिकित्स रहना चाहिये।

अमूढदृष्टिता

मोक्ष मार्ग से रहित अन्य आत्माओं की विभूति विशेष देख कर जिसका चित्त उलझता नहीं अथवा भ्रान्त नहीं होता, वह आर्या अमूढ दृष्टि कही जाती है। विभूति और ऋद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ वशीकरणादि विद्या से संपादित होती हैं कुछ उपवासादि कष्टसाध्य तप करने से प्राप्त होती हैं और कुछ सुवर्ण सिद्धि आदि की साधना से सिद्ध होती हैं। तप इत्यादि से वैक्रिय लब्धि और आकाश गमनादि लब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, आसन, शय्यादि अनेक प्रकार से पूजा की प्राप्ति होना यह भी ऋद्धि का ही प्रकार है। अन्य लिंग में रही हुई तथा मोक्ष मार्ग के विरुद्ध वर्तन करने वाली आत्माओं की भी पूजा, सत्कार,

उस प्रकार के वचनों द्वारा उत्साहित करना, मनुष्यभव की दुर्लभता आदि कहा कर उद्यमवंत बनाना, स्थिरकरण नाम का दर्शनाचार है ।

समान धर्मियों का भक्त पान और वस्त्रपात्रादि द्वारा वात्सल्य करना, वात्सल्य नाम का दर्शनाचार है । प्रार्घूर्णक (परोणा) आचार्य, ग्लान, तपस्वी, बाल आदि की विशेष भक्ति करने की क्रिया वात्सल्य गुण को प्रकाशित करने वाली है ।

प्रभावना

प्रभावना आठवां दर्शनाचार है । स्वशक्ति द्वारा श्री जिन शासन को प्रकाशित करना, इसका नाम प्रभावना है । यद्यपि श्री जिनप्रवचन अनेक अतिशयों का निधान है। और अपने प्रभाव से ही प्रतिष्ठित है तो भी वह भव्य आत्माओं के मन के विषय में अधिक स्थिर हो ऐसा प्रयत्न करना, सम्यग्दृष्टि आत्मा का कर्तव्य है । अवधिज्ञानादि अतिशायिक ऋद्धि वाले, धर्मकथा की लब्धि वाले, वाद लब्धि वाले, प्रवचन के पारगामी आचार्यादि, छट्ठ अट्ठमादि विकृष्ट (कठिन) तप करने वाले, निमित आदि को जानने वाले, कवित्व शक्ति को धारण करने वाले और राजा प्रजादि बहुत मान्य पुरुष अपनी अपनी विभूति द्वारा

भी जिन वचन की प्रभावना कर सकते हैं और मध्यस्थ
तथा तीव्र आत्माओं को भी जिन कथित तीर्थ पर बहुत
मान उत्पन्न करा सकते हैं।

शुश्रूषादि गुण

सद्बोध के कारणभूत धर्मशास्त्र सुनने की तीव्र
इच्छा का नाम शुश्रूषा है। शुश्रूषा के बिना सुना और
समझा हुआ श्रुत निष्फल है शुश्रूषा भी पर और अपर
दो प्रकार की है।

की पहले गणना का तात्पर्य यह है कि एक अपेक्षा से गुरु, देव की अपेक्षा भी प्रथम पूज्य है क्योंकि गुरु के उपदेश बिना सामान्य देव का बोध होना ही दुष्कर है। उन गुरुदेव की यथाशक्ति अपनी शक्ति अनुसार भक्ति विधायणा अभ्यर्चना पूजादि निरन्तर करने का नियम सम्यग्दृष्टि जीवों में होता है।

सम्यग्दर्शन होने पर भी अणुव्रतादि न भी हो

सम्यक्त्ववान आत्मा शुभ्रपादि गुणों को अवश्य धारण करने वाली होती है। परन्तु व्रत के अंगीकार के लिए ऐसा नियम नहीं। सम्यग्दृष्टि आत्मा अणुव्रतादि को अंगीकार कर भी और न भी कर क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति में दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है, चारित्र की प्राप्ति में उससे भी अधिक दर्शनमोहनीय के उपरान्त चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की भी आवश्यकता है।

यद्यपि अपूर्वकरण से राग द्वेष की प्रगाढ़ गाँठ उच्छेदित हो जाती है जिससे सम्यग्दृष्टि आत्मा को चारित्र का पालन और व्रतों का अंगीकार यद्यपि अत्यन्त उपादेय भासित होते हैं तो भी जितनी कर्म स्थिति के ह्रास से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उतनी ही कर्म

स्थिति के ह्रास से चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उससे अधिक कर्म स्थिति का ह्रास होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में आगम में कहा है—

सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलिअपुहुत्तेण सावओ हुज्जा।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतरा होंति ॥१॥

सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् दो से नौ पल्योपम [illegible] कर्म स्थिति क्षय होने पर देशविरति श्रावक धर्म की प्राप्ति होती है और संख्यात सागर जितनी स्थिति [illegible] सर्वविरति-साधु धर्म की प्राप्ति होती है।

वस्तु के विषय में असत्य बोलना है। सूक्ष्म वस्तु विषयक असत्य की अपेक्षा स्थूल वस्तु विषयक असत्यवाद में अप्रत्ययाय की दुष्टता अधिक रहती है।

तीसरे अणुव्रत में किसे ग्रहण करने से चोरी का आरोप लगे ऐसी सचित्त (दासादि), अचित्त (वस्त्रादि) और मिश्र (अश्वादि) स्थूल अदत्त वस्तुओं के ग्रहण का त्याग करता है।

चौथे अणुव्रत में औदारिक (मनुष्य और तिर्यञ्चणी) तथा वैक्रिय (विद्याधरी और देवी) पर स्त्रिया का त्याग करता है तथा स्व स्त्री के विषय में सन्तोष धारण करता है।

पाँचवे अणुव्रत में असद् आरम्भ की प्रवृत्ति करवाने वाले धनधान्यादि नौ प्रकार की वस्तुओं में इच्छा का परिमाण करता है।

छठे दिग्विरति व्रत में, ऊँचे पर्वतादि के ऊपर, नीचे कूपादि तथा तिर्यक् पूर्वादि दिशाओं में यावज्जीवन के लिये या चातुर्मासादि काल के लिये जाने आने का परिमाण करता है।

सातवें उपभोग परिभोग परिमाण व्रत में भोजनादि में अभक्ष्य अनन्तकायादि का त्याग करता है तथा व्यापारादि में अतिक्रूर कर्मवाले कोटवालादि और यन्त्र

कर्मादि के व्यापारों का त्याग करता है। आन्तरिक भोग अथवा एक बार भोग हो वह उपभोग (अशनादि) और बाह्य भोग अथवा बार बार भोग हो वह परिभोग (वस्त्रादि) कहे जाते हैं। उपभोग में श्रावक उत्सर्ग से प्रासुक (निर्जीव) और एषणीय (अपने लिये नहीं बनाया हुआ) आहार प्रयोग करता है। अनेषणीय प्रयोग करना पड़े तो भी अल्पसावद्य, वनस्पतीजादि तो कभी प्रयोग न करे परिभोग में श्रावक उत्सर्ग से स्थूल, भवल और अल्पमू

त्याग करना है । निर्निमित्त पाप से बचना अनर्थ दंड है, निष्प्रयोजन आर्त-रौद्र ध्यान करना, अपध्यान है । बिना प्रयोजन के हिंसा के कारण शस्त्र, आयुध अग्नि, विषादि पदार्थ दूसरे को देना हिंसा प्रदान है । अकारण कृष्यादि पाप क्रियाएं करने का उपदेश देना, पापोपदेश है और शरीरादि के प्रयोजन के बिना भी खाना पीना चलना-फिरना सोना बैठना या नाटक प्रेक्षण देखना प्रमादाचरण है । ये चारों अनर्थदंड हैं ।

नवें सामयिक नाम के प्रथम शिक्षाव्रत में एक मुहूर्त पर्यंत सावद्ययोग (सपाप व्यापार) का त्याग और निरवद्य योग (निष्पाप व्यापार) का आसेवन कर ।

सामायिक आदि चार व्रत शिक्षा व्रत इसलिये कहे जाते हैं कि परमपद की प्राप्ति के लिये ये बार बार सेवन योग्य हैं । शिक्षा अर्थात् अभ्यास अथवा परमपद प्राप्तिका क्रिया, तत्प्रधान व्रत, शिक्षाव्रत है ।

सम अर्थात् राग द्वेष का अभाव, उसका आय, अर्थात् लाभ-राग द्वेष विरहित मध्यस्थ आत्मा प्रतिक्षण चिन्तामणि और कल्पवृक्ष को भी पराभूत करने वाले निरुपम सुख के हेतुभूत-अपूर्व ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय को प्राप्त करता है, उसका नाम समाय है । वह समाय

जिस क्रियानुष्ठान का प्रयोजन है वह सामायिक कहा जाता है। अहर्निश मुहूर्तादि काल की मर्यादा से सपाप व्यापारों का वर्जन और निष्पाप व्यापारों का सेवन करना, सामायिक नाम का नवाँ व्रत है।

विगइ के त्याग पूर्वक आयंबिल अथवा एकाशन करना। सर्व से आहार पौषध अर्थात् चारों प्रकार के आहार का अहोरात्रि के लिए त्याग करना। देश से शरीर पौषध अर्थात् शरीर के पूर्व भाग में नहीं किन्तु अमुक भाग से संबंधित ही सम्मार्जनादि करना और सर्व से शरीर पौषध अर्थात् शरीर के सभी भागों को सम्मार्जनादि न करना।

देश से ब्रह्मचर्य पौषध अर्थात् दिवस अथवा रात्रि में अब्रह्म का त्याग करना और सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध अर्थात् दिवस रात्रि दोनों के लिए ब्रह्मचारी बनना।

देश से अव्यापार पौषध अर्थात् अमुक अमुक व्यापार का त्याग करना और सर्व से अव्यापार पौषध अर्थात् सांसारिक सभी व्यापारों का त्याग करना। देश से पौषध कर वह सामायिक अंगीकार कर, ऐसा नियम नहीं। सर्व से पौषध कर वह दिन रात्रि अथवा अहोरात्रि के लिए घर में या पौषधशाला में अवश्य सामायिक अंगीकार कर।

बारहवें अतिथिसंविभाग नाम के शिक्षा व्रत में शुद्ध और कल्पनीय अन्नादि देश कालोचित रीति से मुनि को अर्पण कर। आदि शब्द से पान, वस्त्र, औषधादि दे, किन्तु हिरन आदि नहीं। शुद्ध अर्थात् न्याय से प्राप्त

[illegible] हुआ हिन्तु अन्याय से प्राप्त किया हुआ नहीं। [illegible] अर्थात् उद्गमादि दोषों से रहित, दोष युक्त नहीं। देशकालोचित रीति से अर्थात् अपने घर आमंत्रित [illegible] अपने लिये बनाया हुआ अन्नादि भोजन काल में दे किन्तु भोजन काल बीत जाने के बाद अथवा मुनि के [illegible] अथवा मुनि के लिये बना कर न दे।

पाने की अभिलाषा रखे और सम्यक्त्व की निर्मलता भक्ति और पर्युपासना करनी चाहिए तथा सम्यग्दर्शन आत्मा को अधिक गुणों की प्राप्ति हो इसके लिए ज्ञानादि के विषय में सतत उद्यम करना चाहिए। इस प्रकार यतन करने से विरति का परिणाम उत्पन्न होता है और उत्पन्न हुआ हो तो स्थिर रहता है चला नहीं जाता।

श्रावक के बारह व्रतों में अणुव्रत और गुणव्रत प्रायः यावज्जीवन के लिये ग्रहण होते हैं और शिक्षाव्रत इत्वर काल के लिये अर्थात् सामायिक तथा देशावगाशिक प्रतिदिन करने हेतु तथा पौषधोपवास तथा अतिथिसंविभाग प्रति नियत दिनों में करने हेतु ग्रहण किये जाते हैं। प्रायः शब्द से अणुव्रत और गुणव्रत भी प्रति चातुर्मास आदि के लिये ग्रहण किये जा सकते हैं।

आयुष्य के अंत पर शास्त्र प्रसिद्ध संलेखना (अनशन क्रिया पूर्वक श्रावक देह का त्याग कर।

संलेखना व्रत की आराधना

सर्व प्रकार की आराधनाओं में जिस सर्व से आवश्यक आराधना श्री जैन शासन ने बताया है, वह अंतिम आराधना है। उसका दूसरा नाम संलेखना व्रत है। जीवन में की हुई सारी आराधनाओं की सफलता का आधार इस अंतिम आराधना पर है। अंतिम समय अर्थात्

[illegible] के [illegible] समय पर करने योग्य आराधना किये बिना ही मृत्यु हो जाये तो चाहे जैसी आराधक आत्मा [illegible] भी विराधक जाती है। इतना ही नहीं परन्तु कर्म [illegible] पर्यंत जो आत्मा आराधना नहीं कर सकी, [illegible] भी यदि इस समय की आराधना को साथ [illegible] मृत्यु जाती है ऐसी इस अंतिम आरा-

गुरु का योग न हो तो उत्तम श्रावक के मुख से उसका श्रवण करे।

गुरु कहते हैं-(१) 'मरण समय लिये हुए व्रतों में लगे हुए अतिचार की आलोचना करनी चाहिये। २ लिये हुए अथवा नहीं लिये हुए व्रतों को पुनः ग्रहण करने चाहिये। ३ सब जीवों को क्षमा देनी चाहिये। ४ अठारह पापस्थानकों का त्याग करना चाहिये। ५ चार शरणों को ग्रहण करनी चाहिये। ६ दुष्कृत की निन्दा करनी चाहिये। ७ सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये। ८ अनशन का आदर करना चाहिये। ९ शुभ भावना लाना चाहिये और १० श्री पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करना चाहिये।

अतिचार आलोचना

साधु और श्रावकों के पालन योग्य पाँच आचार श्री जैन शासन में दर्शाये हुए हैं। उनके पालन में कितनी बेदरकारी बतायी हो अथवा उनके विरुद्ध आचरण किया हो, उन्हें यहाँ अतिचार समझना चाहिये। यथा सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञानियों को अन्न, पान, वस्त्र पात्र आदि द्वारा सहायता न की हो, उनकी अवज्ञा की हो, उपहास किया हो अथवा उपघात किया हो, ज्ञान के साधन

[illegible] के अंत समय पर करने योग्य आराधना किये बिना ही मृत्यु हो जाये तो चाहे जैसी आराधक आत्मा [illegible] भव नहीं बिगड़ जाती है। इतना ही नहीं परन्तु कर्म [illegible] मोक्ष पर्यंत तो आत्मा आराधना नहीं कर सकी, [illegible] भी यदि इस समय की आराधना को साथ [illegible] तो उसकी [illegible] सुधर जाती है ऐसी इस अंतिम आरा- [illegible] की महत्ता है। श्री जिन शासन में रहे हुए सा[illegible]

गुरु का योग न हो तो उत्तम श्रावक के मुख से उसका श्रवण करे।

गुरु कहते हैं—(१) 'मरण समय लिये हुए व्रतों में लगे हुए अतिचार की आलोचना करनी चाहिये। २ लिये हुए अथवा नहीं लिये हुए व्रतों को पुन ग्रहण करने चाहिये। ३ सर्व जीवों को क्षमा देनी चाहिये। ४. अठारह पापस्थानकों का त्याग करना चाहिये। ५ चार शरणों को ग्रहण करनी चाहिये। ६ दुष्कृत की निन्दा करनी चाहिये। ७ सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये। ८ अनशन का आदर करना चाहिये। ९ शुभ भावना लाना चाहिये और १० भी पंचपरमेष्ठियों का नमस्कार करना चाहिये।

अतिचार आलोचना

साधु और श्रावकों के पालन योग्य पांच आचार श्री जैन शासन में दर्शाये हुए हैं। उनके पालन में जितनी बेदरकारी बतायी हो अथवा उनके विरुद्ध आचरण किया हो, उन्हें यहाँ अतिचार समझना चाहिये। यथा सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञानियों को अन्न, पान, वस्त्र पात्र आदि द्वारा सहायता न की हो, उनकी अवज्ञा की हो, उपहास किया हो अथवा उपघात किया हो, ज्ञान के साधन

से या परवशता से असत्य वचन उच्चार हो, मायादि का सेवन कर अन्य द्वारा न दिया हुआ धन भी ग्रहण किया हो देव संबंधी मनुष्य संबंधी या तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का सेवन किया हो अथवा सेवन करने का अभिलाषा किया हो, धन धान्यादि नवविध परिग्रह के सम्बन्ध में यदि ममत्व भाव का पोषण किया हो तथा रात्रि भोजन त्याग में जो कोई अतिचार हुए हों उन सबकी आत्म साक्षी से निन्दा करनी चाहिये और गुरु साक्षी से गर्हा करनी चाहिये।

तप सम्बन्धी अतिचार जैसे अनशन, उनोदरी आदि छ प्रकार का बाह्य तप और प्रायश्चित, विनयादि छ प्रकार का अभ्यंतर तप शक्ति अनुसार न किया हो, उसकी निन्दा और गर्हा करनी चाहिये।

वीर्य सम्बन्धी अतिचार यथा-ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना में मन, वचन, काया का यथा शक्ति उपयोग न किया हो तथा वीर्याचार का पालन करने वाले की निन्दा उपेक्षा की हो, उसकी निंदा, गर्हा करनी चाहिये।

व्रतोच्चारण

प्राणातिपातविरमण आदि व्रत पूर्व

द्वारा जगत के सर्व भावों को जानने और देखने वाले तथा देव रचित समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश देने वाले, घातिकर्म से मुक्त, आठ प्रतिहार्यों की शोभा से युक्त तथा आठ प्रकार के मद स्थानों से रहित सर्वोत्कृष्ट स्वरूप में जिनका पुनः उदय नहीं, और शत्रुओं का नाश करने में जो अरिहंत बने हैं तथा तीनों जगत में जो पूजनीय हैं, उन श्री अरिहंतों की शुभ शरण प्राप्त हो।

भयंकर दुःख की लाखों लहरों से कठिनाई से तैरा जा सके ऐसे संसार समुद्र को जो तैर गये हैं और जिन्हें सिद्धि सुख की सम्प्राप्ति हुई है तपश्चर्या मुद्गर से जिन्होंने कर्मरूपी घड़ियाँ तोड़ डाली हैं, ध्यानरूपि अग्नि के प्रयोग से जिन्होंने सारा कर्म मल जला डाला है, जिन्हें जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, चित्त का उद्वेग नहीं या व्याधादि कषाय नहीं बैसे सुवर्ण समान निर्मल श्री सिद्धों की शुभ शरण प्राप्त हो।

बयालीस दोष रहित भिक्षा अंगीकार करने वाले पाँचों इन्द्रियों को वश करने में तत्पर, कामदेव के मान को तोड़ने वाले, ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले, पांच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, महाव्रतोंरूपी भार को वहन करने में वृषभ समान, मुक्ति रमणी के

मार्ग को आगे बढ़ाया हो और दूसरों के लिये पाप का कारणभूत पना होउ, उस सबकी अब मैं निन्दा करता हूँ।

जन्तुओं को त्रास देने वाले हल, मूसल आदि अधिकरण मैंने बनवाये हों और पापी कुटुम्ब का पोषण किया हो, उन सबकी अब मैं निन्दा करता हूँ।

सुकृतानुमोदना

स्व पर के सुकृतों की अनुमोदना करनी चाहिये। यथा श्री जिन मंदिर श्री जिन प्रतिमा, श्री जिनागम और श्री चतुर्विध संघ इन उत्तम प्रकार के सातों क्षेत्रों में जो धन बाज मैंने बोया हो अथवा मन, वचन काया से उसकी भक्ति की हो, उस सुकृत की मैं बार बार अनुमोदना करता हूँ। इस संसार रूपी समुद्र में जहाज समान रत्नत्रयी का सम्यक् रूप से जो आसेवन मेरे से हुआ हो उस सारे सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ। श्री अरिहंत, श्री सिद्ध, श्री आचार्य, श्री उपाध्याय, श्री साधु और श्री सिद्धान्त के विषय में मैंने जो आदर सत्कार किया हो उसकी अनुमोदना करता हूँ। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि षडावश्यकमें मैंने जो कुछ उद्यम किया हो, उस सुकृत की मैं अनुमोदना करता हूँ।

करना चाहिये। नीच गोत्र के बंध के सिवाय आहार तैयार होता नहीं जिससे भव भ्रमण के कारणभूत नीच बंध से विराम करवाने वाले चतुर्विध आहार का त्याग करना चाहिये। जिस आहार का सकाम रूप से त्याग करने से देवों के अधिपत्य वाला इन्द्र पद भी स्वाधीन होता है और अत्यन्त दूर स्थित मोक्ष का सुख भी निकट आता है अतः चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिये।

श्री नमस्कार मंत्र

अन्तिम आराधना के लिये अंतिम और दसवां कृत्य श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण है। उस मंत्र का अंतिम समय अवश्य स्मरण करना चाहिये। पाप परायण जीव को भी यदि अंत समय पर वह प्राप्त हो जाये, तो उसकी गति को सुधार देता है देवत्व अथवा उत्तम कोटि का मनुष्यत्व प्राप्त करवाता है। स्त्रियाँ मिलनी सुलभ हैं, राज्य मिलना सुलभ है देवत्व मिलना सुलभ है परन्तु श्री नमस्कार महामंत्र की प्राप्ति होनी दुर्लभ है। एक भव से दूसरे भव में जाते समय श्री नमस्कार मंत्र की सहायता से प्राणी मनोवांछित सुख प्राप्त करते हैं। जिस श्री नवकार मंत्र की प्राप्ति से भवरूपी समुद्र भी पाप के सुख के जितना छोटा हो जाता है तथा जो श्री नवकार मंत्र मोक्ष

जहाँ साधुओं का आवागमन हो श्री जिन चैत्य हों और समान धर्मी श्रावक का निवास हो।

साधुओं के आवागमन से वन्दनादि का लाभ मिले, साधुओं की वन्दना से पाप का नाश हो, साधुओं के मुख से धर्म का श्रवण करने से श्रद्धा निश्चल बने तथा साधुओं को आसुक अन्नादि दान से निर्जरा और सम्यग् ज्ञानादि का अनुग्रह हो। चैत्यों की वन्दनादि करने से मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो और पूजादि महोत्सवों द्वारा शासन की प्रभावना हो। साधर्मिकों के सहवास से धर्म में स्थिरीकरण हो, शासन के सार तुल्य साधर्मिक वात्सल्य का लाभ मिले तथा परस्पर मार्ग सहायादि से धर्म की वृद्धि हो।

श्रावक का दैनिक कृत्य

अब 'श्रावक को प्रतिदिन क्या कर्तव्य होता है?' वह बताते हैं। श्रावक नवकार महामन्त्र के स्मरणपूर्वक जाग्रत हो अर्थात निद्रा से जाग्रत होने पर सर्व प्रथम श्री नवकार महामन्त्र का स्मरण कर फिर स्वयं द्वारा अंगीकार किये हुए व्रतादि का स्मरण कर। तत्पश्चात् आवश्यक क्रिया कर। उसके बाद शरीर चिन्ता करके गृह मन्दिर में आये वहाँ चैत्यवन्दन करे। तदुपरान्त माता पितादि

जहाँ साधुओं का आवागमन हो, श्री जिन चैत्य हों और समान धर्मी श्रावक का निवास हो।

साधुओं के आवागम से वन्दनादि का लाभ मिले, साधुओं की वन्दना से पाप का नाश हो, साधुओं के मुख से धर्म का श्रवण करने से श्रद्धा निश्चल बने तथा साधुओं को प्रासुक अन्नादि दान से निर्जरा और सम्यग् ज्ञानादि का अनुग्रह हो। चैत्यों की वन्दनादि करने से मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यग्दर्शन की विशुद्धि हो और पूजादि महोत्सवों द्वारा शासन की प्रभावना हो। साधर्मिकों के सहवास से धर्म में स्थिरीकरण हो, शासन के सार तुल्य साधर्मिक वात्सल्य का लाभ मिले तथा परस्पर मार्ग सहायादि से धर्म की वृद्धि हो।

श्रावक का दैनिक कृत्य

अब 'श्रावक का प्रतिदिन क्या कर्तव्य होता है ?' यह बताते हैं। श्रावक नवकार महामंत्र के स्मरणपूर्वक जाग्रत हो अर्थात निद्रा से जाग्रत होने पर सर्व प्रथम श्री नवकार महामंत्र का स्मरण कर फिर स्वयं द्वारा अंगी कार किये हुए व्रतादि का स्मरण करे। तत्पश्चात् आवश्यक क्रिया कर। उसके बाद शरीर चिन्ता करके गृह मन्दिर में जाय वहाँ चैत्यवंदन करे। तदुपरान्त माता पितादि

दुष्ट प्रवृत्तियों की चिन्तवना कर और आत्मा के साथ एकमेक बनावे।

इसके उपरान्त घर जाकर स्वगुरादि का मन में स्मरण करके सो जाय। उस समय में अशुभ का विरति कर, मोह की निन्दा कर और यह शरीर के जुगुप्सनीय स्वरूप का बार बार चिन्तन कर। अवश्य से विराम प्राप्त यति पुरुषों का हृदय से सम्मान कर। रात्रि में निद्रा टूट जाय तब आत्मा कर्म, परलोक आदि सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तवना करे। प्रतिक्षण हो रहे आयुष्य के क्षय का विचार कर। प्राणवधादि असदाचरणा से होने वाले नरकादि दुष्ट विपाकों का चिन्तन कर और थोड़े समय में अधिक लाभ देने वाले धर्मानुष्ठान से होने वाले विविध प्रकार के (कर्मनिर्जरा पुण्योपार्जनादि) फलों का विचार कर अथवा जो जो दोष आत्मा को बाधक हों उन उन दोषों के प्रतिपक्षी सद्गुणों का बारम्बार चिन्तन कर इत्यादि चिन्तन करने से आत्मा में संवेग रस का उद्भव होता है और मोक्ष सुख का अनुराग उत्पन्न होता है।

नवकार के स्मरणपूर्वक जाग्रत हुआ श्रावक कुल, स्वधर्म, व्रत नियमादि को याद कर। प्रतिक्रमण करके पवित्र होकर, गृह जिनमन्दिर की पूजा करके प्रत्याख्यान कर। ५

उचित चिन्ता में लीन श्रावक श्री जिनगृह में जाकर विधिपूर्वक श्री जिन की अर्चना कर। उसके पश्चात् दृढ़ आचार का पालन करने वाले गुरु के पास जाकर पच्चक्खाण का उच्चारण कर। ६

तदुपरान्त स्वधर्म का पालन हो उस प्रकार व्यवहार शुद्धि पूर्वक देश विरुद्धादि का त्याग करते हुए और (माता पिता पूजनादि) उचित वृत्ति का पालन करते हुए अर्थ चिन्ता (धनोपार्जन) करने के लिये उद्यम कर। ७

मध्याह्न में श्री जिनपूजा, सुपात्रादि को दान तथा भोजन करके पच्चक्खाण करे और गीतार्थ गुरु के पास जाकर स्वाध्याय कर। ८

मध्या समय पुन अनुक्रम से श्री जिन पूजन, प्रतिक्रमण, मुनियों का विश्रामण (भक्ति) तथा विधिपूर्वक आत्म ध्यान (स्वाध्याय) कर। उसके पश्चात् घर गया हुआ वह (स्वजनों को) धर्म कहे। ९

प्राय अब्रह्म (मैथुन सेवन) से विरत श्रावक अवसर पर अल्प निद्रा कर। निद्रा का उपशम होने पर भी